बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिरों का सांस्कृतिक अध्ययन

दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई
(सम्बद्ध बुन्देलखण्ड-विश्वविद्यालय, झांसी उ0प्र0)
के
इतिहास-विभाग के अन्तर्गत पी एच.डी. उपाधि
हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

BUNDELKHAND UNIVERSITY
Central Library
Acc. No. ...
Date 03/08/09
JHANSI
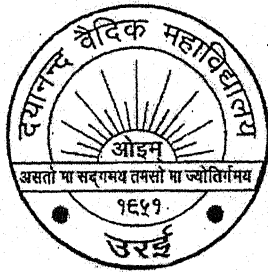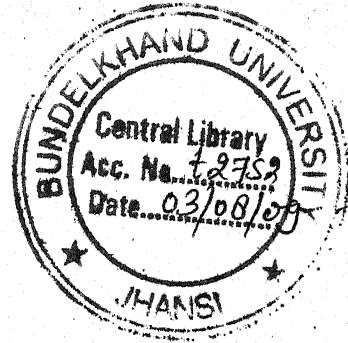
2007

शोध पर्यवेक्षक
डॉ0 (श्रीमती) शारदा अग्रवाल
रीडर, विभागाध्यक्ष इतिहास विभाग
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उरई (उ0प्र0)

अनुसन्धित्सु
वरूण तिवारी
एम0ए0 इतिहास

डॉ0 (श्रीमती) शारदा अग्रवाल

रीडर एवं अध्यक्ष

इतिहास विभाग

दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई

दिनांक 17-10-07
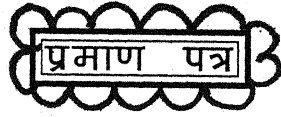
प्रमाणित किया जाता है कि श्री वरूण तिवारी ने इतिहास विषय में ''डॉक्टर ऑफ फिलास्फी'' की उपाधि हेतु शीर्षक ''बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिरों का सांस्कृतिक अध्ययन'' पर मौलिक शोध कार्य मेरे निर्देशन में नियमानुसार अपेक्षित समय सीमा के अन्तर्गत पूर्ण किया है।

डॉ0 (श्रीमती) शारदा अग्रवाल

रीडर एवं अध्यक्ष

इतिहास विभाग

दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई

'प्राक्कथन'

भारतीय सभ्यता–संस्कृति की गंगा–यमुनी निजता एवं विशेषता, भारतीय जीवन के विभिन्न रूपों में निहित सनातन सत्य तथा इसकी शाश्वता स्वीकार करती है। जिसके अभाव में भारतीय जीवन का अध्ययन दूभर एवं निष्प्राण है।

भारतीय चिन्तन समष्टिवादी है, इसकी दृष्टि सदैव समाज परक रही है तथा सामाजिक जीवन को संतुलित करने के लिये यहां धर्म को केन्द्र में रखा है। सम्पूर्ण मानव समाज को कार्य शक्ति के आधार पर चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे ज्ञान, रक्षा, जीविका और सेवा के रूप में भी देखा जाता है। समाज विदों ने चार आश्रमों की भी व्यवस्था की है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। चूंकि मानव जीवन का परम लक्ष्य मुक्ति, मोक्ष अर्थात् परमानन्द को माना गया है, अतः इसके लिये पुरूषार्थ चतुष्टय–धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की अवतारणा की गयी है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, पुरूषार्थ आदि का मूल उद्देश्य मानव को पूर्ण मानव बनाना है और इसके लिये विविध धर्म, सम्प्रदायों का निर्माण हुआ।

भारतीय समाज में धर्म रहित जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। हिन्दू संस्कृति में तो धर्म ही जीवन है। यहां मानव को जन्म से ही धर्म की घुट्टी पिलाई जाती है। यदि यह कहें कि यहां धर्म मानव के रग–रग में समाहित है तो अतिश्योक्ति न होगा। धार्मिकता के फलस्वरूप ही यहां अनेक मंदिर निर्मित हैं, जिनमें वैष्णव मन्दिर बहुतायत में हैं।

मानव हृदय जब दुखार्णव में निमग्न होता है, चारों ओर से जब वह हताश और निराश हो जाता है, कहीं भी उसे आशा की कोई किरण नहीं दिखायी

पड़ती तब वह थक–हार कर ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करने के लिये मंदिर आता है और वहां वह अपनी बात ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत कर आत्मिक शांति का अनुभव करता है। मन्दिर तो ऐसा स्थान है जहां मानव हर्ष–विषाद, पूजा–उपासना, व्रत–त्यौहार एवं ईश्वर के दर्शन के लिये प्रतिदिन आता है।

बुन्देलखण्ड में प्रारम्भ से ही मन्दिरों की एक वैभवशाली परम्परा रही है, जहां मनुष्य कुछ समय के लिये दुनियादारी से विरत होकर एकान्त में ध्यान व समूह में भजन–कीर्तन कर ईश्वर के निकट होने का अनुभव करता है।

बुन्देली धरा पर निर्मित मन्दिर हमारी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विरासत है, इनसे हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परायें जुड़ी हुई हैं। परन्तु वर्तमान समय में आधुनिकीकरण एवं नवीनीकरण की छाप दिनों–दिन बढ़ती जा रही है। इस कारण आज का युवा वर्ग अपनी प्राचीन धार्मिक सांस्कृतिक परम्परायें, वैभवशाली मन्दिरों की प्राचीनता, कलात्मकता, निर्माण शैली, शिल्पगत सौन्दर्य एवं उनकी विशिष्टताओं को भूलता जा रहा है।

अतः इन मन्दिरों तथा इनसे जुड़ी हमारी धार्मिक–सांस्कृतिक परम्पराओं की संरक्षा व सुरक्षा की जटिल समस्या हमारे सामने खड़ी है। सांस्कृतिक विरासत ही हमारी पहिचान है।

इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये मैने 'बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिरों का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर शोध कार्य करने का मन बनाया।

प्रस्तुत शोध का प्रथम अध्याय 'बुन्देलखण्ड का विस्तृत वर्णन' से सम्बन्धित है। इसमें बुन्देलखण्ड की अवधारणा, भौगौलिक स्थिति तथा इसके सीमांकन का फलक तैयार किया गया है। बुन्देलखण्ड के गौरवमयी स्वर्णिम इतिहास का वर्णन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत किया गया है। समाज में प्रचलित रीति–रिवाजों, वस्त्र –आभूषणों, धार्मिक–भावनायों पर सामाजिक तथा सांस्कृतिक

गतिविधियों के अन्तर्गत विचार किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से भी बुन्देलखण्ड अत्यन्त समुन्नत है। यहां की साहित्यिक परम्परा कवि, लेखकों, साहित्यकारों के साथ मूर्तिकारों, शिल्पकारों तथा उनके योगदानों का अन्वेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन कर प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'वैष्णव सम्प्रदाय की अवधारणा एवं स्वरूप' से सम्बन्धित है। इसमें विविध वैष्णव सम्प्रदाय के उद्भव के पहले की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक दशा का वर्णन किया गया है तथा वैष्णव सम्प्रदाय के विकास एवं समाज में इनकी उपादेयता को दर्शाया गया है। वर्तमान में कार्यरत विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के स्वरूप पर भी चर्चा की गयी है।

तृतीय अध्याय 'मंदिर की अवधारणा एवं स्वरूप' से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत समाज में मंदिर वास्तु से पूर्व की धार्मिक वास्तु का विवेचन किया गया है। मंदिर निर्माण के प्रारम्भ से उनके चतुर्मुखी विकास, इनकी विविध निर्माण शैलियों का विवरण दिया गया है, इसके साथ ही मंदिरों की संस्कृति पर भी विचार किया गया है।

'बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिर' चतुर्थ अध्याय का विषय है। इसमें बुन्देलखण्ड में वैष्णव मंदिरों की अधिकता तथा निर्मित वैष्णव मंदिरों की स्थापत्य कला, मूर्तिकला, निर्माण कला शैली का विस्तृत वर्णन कर उनके शिल्पगत सौन्दर्य का भी उल्लेख किया गया है।

इसके साथ भगवान विष्णु के प्रमुख अवतारों एंव उनकी मूर्तियों का उल्लेख किया गया है। मंदिरों की तरह इन अवतारों की मूर्तियों के अस्तित्व को बचाने के लिये इनका चित्रांकन भी किया गया है तथा यहां के वैष्णव मन्दिरों में साधना एवं आराधना के स्वरूप को भी प्रदर्शित किया गया है।

पंचम अध्याय 'वैष्णव मन्दिरों का सांस्कृतिक स्वरूप' से सम्बन्धित है।

इसमें लोक एवं संस्कृति, लोक धर्म, लोक विश्वास, पर विभिन्न विद्वानों के विचारों के आलोक में विचार किया गया तथा इनका मंदिरों से सम्बन्ध पर चर्चा की गयी है। बुन्देली लोक में इन मन्दिरों की महत्ता को दर्शाया गया है।

षष्ठ अध्याय 'उपसंहार' के रूप में है, इसके अन्तर्गत समस्त अध्ययन का निष्कर्ष के रूप में प्राप्त विशिष्टताओं का उल्लेख किया गया है।

शोध–प्रबन्ध से सम्बन्धित सभी पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं, लेख आदि का विवरण संदर्भ ग्रन्थ सूची में दिया गया है।

प्रस्तुत शोध में जिन विद्वानों, गुरूजनों तथा सहयोगियों आदि ने सहयोग दिया है उनके प्रति में आभार–प्रदर्शन करना चाहता हूँ।

सर्वप्रथम मैं अपने शोध–ग्रन्थ की निदेशिका सत्य प्रतिज्ञ, प्रतिभाशाली, व्यक्तित्व की धनी डॉ0 शारदा अग्रवाल, रीडर इतिहास विभाग दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिनके निर्देशन एवं पथ–प्रदर्शन से ये कार्य सम्पन्न हो सका।

एक निष्ठ भाव से शोध कार्य में तत्पर रहने की धैर्य शक्ति प्रदान करने तथा समय–समय पर साहित्य एवं पुस्तकें उपलब्ध कराने वाली दयानन्द महाविद्यालय की इतिहास विभाग की डॉ0 मंजू जौहरी का मैं हृदय से आभारी हूँ।

शास्त्रीय एवं बुन्देली लोक संगीत की मर्मज्ञा, सुविख्यात कवयित्री डॉ0 वीणा श्रीवास्तव, रीडर –संगीत विभाग दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई को मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होनें समय–समय पर अपने अमूल्य सुझावों से लाभान्वित करते हुये शोध कार्य में सक्रिय सहयोग दिया।

बुन्देली लोक संस्कृति के मर्मज्ञ मेरे पिता डॉ0 उपेन्द्र कुमार तिवारी एवं धार्मिक रीति–रिवाजों से परिचय कराने वाली मेरी माँ श्रीमती मंजु तिवारी एवं मेरे बड़े भाई श्री तरूण तिवारी का मैं सदैव ऋणी रहूंगा, जिनके सहयोग के बिना

ये शोध कार्य असंभव सा प्रतीत होता था।

मेरे मौसा जी श्री संजीव अवस्थी एवं मौसी जी श्रीमती गायत्री अवस्थी एवं मेरे छोटे भाई शुभांशु ने भी शोध सामग्री एकत्र करवाने में मेरा सहयोग किया, इनके असीम स्नेह व वात्सल्य की छाया में मैं अपना शोध–कार्य आगे बढ़ा सका।

भ्रमण, छायाकंन, चित्रांकन आदि कार्यों में सहयोग करने वाले मित्रों, शुभचिन्तकों एवं जाने–अनजाने में जिनका सहयोग मुझे मिला उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

Varun Tiwari
वरूण तिवारी

अनुसंधित्सु

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

बुन्देलखण्ड का विस्तृत वर्णन 1—65

(अं) बुन्देलखण्ड की अवधारणा 1—5

(ब) बुन्देलखण्ड की भौगौलिक स्थिति 6—16

(स) बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 17—39

(द) बुन्देलखण्ड की सामाजिक स्थिति 40—49

(य) बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक स्थिति 50—65

द्वितीय अध्याय

वैष्णव सम्प्रदाय की अवधारणा एवं स्वरूप 66—95

(अ) वैष्णव सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि 66—72

(ब) वैष्णव सम्प्रदाय का उद्‌भव एवं विकास 73—85

(स) वैष्णव सम्प्रदाय का वर्तमान स्वरूप 86—95

तृतीय अध्याय

मन्दिर की अवधारणा एवं स्वरूप 96—119

(अ) मन्दिरों की पृष्ठभूमि 96—100

(ब) मन्दिरों का स्वरूप 101—112

(स) मन्दिरों की संस्कृति 113—119

चतुर्थ अध्याय

बुन्देलखण्ड के वैष्णव मन्दिर 120—191

(अ) वैष्णव मन्दिरों की पृष्ठभूमि 120—124

(ब) वैष्णव मन्दिरों का स्वरूप एवं स्थापत्य कला 125—157

(स) वैष्णव सम्प्रदाय के विविध अवतार एवं मूर्तियां 158–180
(द) वैष्णव मन्दिरों में साधना एवं आराधना 181–191

पंचम अध्याय

वैष्णव मन्दिरों का सांस्कृति स्वरूप 192–232

(अ) लोक एवं संस्कृति 192–214
(ब) लोक विश्वास 215–224
(स) लोक धर्म 225–232

षष्ठ अध्याय 233–230

उपसंहार 233–239

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची .

प्रथम अध्याय

(अ) बुन्देलखण्ड की अवधारणा

विश्व सिरमौर भारत वर्ष किसी और के पद्चिन्हों पर कभी न चलते हुये, जो सदैव से स्वयं पद्चिन्ह बनाता आया है। उस विश्व श्रेष्ठ भारत वर्ष जिसकी मुकुट मणि में स्वयं हिमालय विराजमान है। जिसकी अजानुभुजायें सप्त सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र नदियां हैं, पूर्वी घाट एवं पश्चिमी घाट जिसकी सम्पुष्टजंघायें हैं, उसका हृदय स्थल बुन्देलखण्ड है।

भारत वर्ष का हृदय स्थल बुन्देलखण्ड जिसकी रत्नगर्भा बसुन्धरा में शस्त्र, शास्त्र और शौर्य से परिपूर्ण रत्न विराजमान हैं। जिसकी संस्कृति भिन्न–भिन्न कलाओं से गुंजायमान एवं नृत्य करती हो ऐसे बुन्देलखण्ड की धरती को शत्–शत् नमन है।

बुन्देलखण्ड अपनी चतुर्दिक परिलब्धियों के लिये विश्व–विश्रुत है। इसे प्रकृति ने अपने कमनीय कोमल हाथों से सजाया एवं संवारा है। बह्मवेत्ता ऋषि मुनि, महर्षियों ने अपने ब्रह्म ज्ञान से जिसे ब्रह्मज्ञानी बनाया है। तपस्वियों ने इसे अपने तपस्या से पुण्य पूत किया है, पवित्र किया है। दार्शनिक, विद्वान मनीषियों ने जिसे शास्त्र से सुज्जजित किया है। कलाविदों ने जिसे अपनी कला से कलात्मक बनाया है। साहित्यकारों ने साहित्य रचना में अपने श्रम स्वेद को बहाया है। क्षत्रिय राजाओं एवं वीरांगनाओं ने अपनी सम्पुष्ट भुजाओं से जिसकी रक्षा की है और जिसकी आन–बान–शान में प्राण न्यौछावर कर अपने को गौरवान्वित किया है। ऐसे बुन्देलखण्ड में भूगोल अपने पूरे अवयवों के साथ जागृत है, इतिहास सम्प्रभुता को देखकर स्वयं आश्चर्य चकित हो रहा है। जहां आदिम युग से अध्यावधि यात्रा करने के भारतीय संस्कृति के चरण–चिन्ह पग–पग पर दिखायी देते है, ऐसे अधुना प्रसिद्ध बुन्देलखण्ड में इस भू–भाग का नाम 'बुन्देलखण्ड' सदा सर्वदा से यह रहा है, अथवा कुछ और। यहां इस पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। इस भू–भाग के इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है, कि इस क्षेत्र के नाम को एकाधिक बार परिवर्तित किया है। भारतीय ग्रन्थों, पुराणों में इस क्षेत्र का नाम चेदि, दशार्ण, जेजाकभुक्ति, यजुहौती, जुझौति, विंध्यइलाखण्ड, विन्ध्येलखण्ड तथा बुन्देलखण्ड आदि है। ''दशार्ण' इस भू–भाग का सबसे प्राचीन नाम है। "दशार्ण' शब्द का कोषगत अर्थ–दस दुर्ग, दस जल स्रोत, नदी विशेष, देश विशेष तथा

क्षत्रियों का विशेषण इत्यादि है।"[1] बुन्देलखण्ड निश्चित ही दस नदियों का देश है। जिला जालौन के जगम्मनपुर ग्राम के समीप चम्बल, पहूज, कालीसिंध और कुंवारी नामक नदियों का संगम यमुना से होता है। इस स्थान को पंचनद भी कहा जाता है। शेष पांच नदियां वेत्रवती (बेतवा), मन्दाकिनी, केन, तमसा और धसान हैं। अतः इसका नाम 'दशार्ण' होने में भी एक बड़ी सीमा तक सत्यता दिखायी देती है। पौराणिक कथा के अनुसार– "इस भू–भाग पर महान तपस्वी दधीचि द्वारा इन्द्र देवता को स्वयं की अस्थियों का दान दिया गया था। जिनसे बज्र बना था। इसी बज्र से इन्द्र ने दानवों का संहार किया था। अस्थि दान का श्रेय इस भूमि को मिलने के कारण इस भू–भाग को 'बज्र देश' भी कहा गया।[2]

बुन्देलखण्ड का महाकाव्यकालीन नाम चेदि देश है। अधिकतर विद्वानों ने इसके इस प्राचीन नाम को अपनी सर्व सम्मत्ति प्रदान की है। यह तत्कालीन सोलह महाजनपदों में से एक था। इस देश की सीमा पूर्व में सोन नदी, पश्चिम में धषार्ण नदी,उत्तर में यमुना और दक्षिण में नर्मदा नदी के द्वारा निश्चित होती है। इस देश के अन्तर्गत करूष, निषाध, मालव, दशार्ण आदि का समावेश था। अतः हम इसे प्राचीनतम बुन्देलखण्ड मान सकते हैं।

बुन्देलखण्ड के प्राचीन नामों में इस भू–भाग का नाम इतिहास में जेजाक भुक्ति, जुझौति प्रदेश या जुझारखण्ड, यजुर्होति के नाम से भी पुकारा गया है। "प्रसिद्ध चीनी यात्री हुऐनत्सांग ने अपने यात्रा वृतान्त में भारत भ्रमण के समय इस प्रदेश को जुझौति नाम से सम्बोधित किया है।"[3] श्री गोरेलाल तिवारी के शब्दों में "कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत जेजा (जैशक्ति) नामक एक कीर्तिमान एवं शक्तिशाली सामंत था। उसी के नाम पर इस प्रदेश का नाम 'जैजाक भुक्ति' पड़ गया। क्योंकि उसके विक्रम की धूम उन दिनों चारों ओर फैली थी।"[4]

---

(1) *मेघदूत व्याख्या)* — *श्री शेषराज शर्मा* — *पृ0सं0 57*

(2) *बुन्देली लोक काव्य–* — *डॉ0 बलभद्र तिवारी* — *पृ0 सं0 5–6*

(3) *हुऐनत्सांग का भारत भ्रमण* — *पृ0 सं0 634*

(4) *बुन्देलखण्ड दर्शन* — *मोती लाल त्रिपाठी 'अशांत'* — *पृ0सं0 42*

इस भू–भाग का एक नाम 'विन्ध्येलखण्ड' भी है। एतद्विषयक एक लोक कहानी प्रचलित है–' "बुन्देलखण्ड में बुन्देलों का उदय हुआ था। इन्हें विन्ध्येला भी कहते हैं। दंत कथा के अनुसार, इनके आदि पुरूष हेमकरण ने विन्ध्यवासिनी देवी को मस्तक काटकर अर्पण करना चाहा था, पर कुछ बूंदों के गिरते ही देवी प्रसन्न होकर प्रकट हो गयी और उसे रोककर वरदान दिया। बूँद अर्पण करने से उसका वंश 'बुन्देला' कहलाया।"[1]

अत्एव अपनी आन–बान–शान और देश–जाति की अस्मिता के रक्षक इतिहास प्रसिद्ध इन बुन्देला क्षत्रियों के शासन के अधीन होने से, इस प्रदेश का नाम 'बुन्देलखण्ड' पड़ा माना जाता है।

क्रोम्बियन युग की निर्मित मिट्टी इसकी प्राचीनता की स्वयं उद्घोषिका है। ऐसे प्राचीन बुन्देलखण्ड का क्षेत्र विस्तार समय–समय पर अनेक बार परिवर्तित होता रहा है, जिससे इसकी सीमायें घटती–बढ़ती रही हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतमतान्तर है। नामकरण पर विचार करते हुये पुराण कालीन चेदि राज्य पर विचार किया गया है। वस्तुतः चेदि राज्य की सीमायें जिन नदियों से की गयी है वह आधुनिक युग में आज भी उपलब्ध हैं। जो इस देश की प्रचीनतम सीमा भी थी।

महाराज छत्रसाल के शासनाधीन बुन्देलखण्ड की सीमा से सम्बन्धित एक दोहा तथा छन्द दीवान प्रतिपाल सिंह ने लिखा है–

इत जमुना, उत नर्मदा, इत चम्बल, उत टोंस।
छत्रसाल से लरन की, रही न काहू हौंस।।

छन्द– उत्तर समतल भूमि, गंग जमुना सुबहित।
प्राचीन दिस कैमूर, सोन कासी सुलसति है।।

---

(1) ओरछा गजेटियर — *पृ0 सं0 12*

दक्खिन रेवा, विन्ध्याचल, तन सीतल करनी।
पश्चिम में चम्बल चंचल सोहित मन हरनी।।
तिनि मधि राजे गिरि, वन, सरित मनोहर।
कीर्तिस्थल बुन्देलन को बुन्देलखण्ड वर।।

इस सम्बन्ध में डॉ० सर जार्ज इब्राहम गिर्यसन, वीसेन्ट ए० स्मिथ, श्री भगवानदास गुप्त, श्री गौरीशंकर द्विवेदी, डॉ० सरला कपूर आदि विद्वानों ने बुन्देलखण्ड के क्षेत्र विस्तार के सम्बन्ध में अपने मत प्रस्तुत किये है, जिनका विस्तार बुन्देलखण्ड की भौगौलिक स्थिति नामक अध्याय में किया गया है।

धार्मिक एवं पौराणिक दृष्टिकोण से बुन्देलखण्ड की संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। बुन्देलखण्ड अपनी संस्कृति के लिये सुविख्यात है, इसमें पुरातनता सुचिता के साथ–साथ सहष्णिुता समन्वयवाद एवं सामंजस्य की उत्कृष्ट भावना, क्षमा, दया, दानशीलता, त्याग, बलिदान, आत्मसात करने की क्षमता एवं नैतिक मूल्यों की अवधारणा जैसे अनेक आदर्शमय गुणों का समावेश है। जो अनुकरणीय है। संस्कृति की प्राचीनता एवं पुरातनता के नाम पर बुन्देलखण्ड का पारम्परिक इतिहास त्रेत्रायुग से ही जुड़ा हुआ है। मन्दाकिनी जैसी पुण्य सलिला नदी के किनारे चित्रकूट में भगवान राम ने वनवास के समय वारह वर्ष व्यतीत किये। जिसके अवशेष आज भी धार्मिक आस्था के प्रेरणास्रोत है।

"चित्रकूट में रम रहे, रहिमन अवध नरेश।
जा पर विपदा परत है, सो आवत यहि देश।।"[1]

द्वापर युगीन महाभारत कालीन शिशुपाल जैसे वीर योद्धा का सम्बन्ध चन्देरी, वाणासुर का वानपुर तथा उसकी पुत्री 'ऊषा' तथा श्रीकृष्ण के पौत्र एवं प्रद्युम्न के पुत्र अनिरूद्ध की प्रणय गाथा, तुंग के नाम पर तुंगारण्य, अत्रि के नाम पर अत्रि आश्रम, तमसा टोंस नदी के किनारे, कवि बाल्मीक की स्मृति महाभारत जैसे ग्रन्थ के रचयिता वेदव्यास की जन्म भूमि कालपी, गोस्वामी तुलसीदास जी की जन्मस्थली राजापुर जैसे अनेक स्थल बुन्देलखण्ड की संस्कृति से जुड़े हैं तथा आज भी श्रद्धा के केन्द्र हैं। जहां एक ओर सर्वहारी शिव ने कालकूट विषपान करने के बाद उसका शमन करने के

(1) रहीम के दोहे अर्ब्दुल रहीम खानाखाना

लिये कालिंजर को चुना। यही कालिंजर इतिहास प्रसिद्ध कालिंजर है, जिसने चन्देलों के वैभव काल को देखा है। दतिया जनपद में स्थित उनाव बाला जी का सूर्य मन्दिर कुष्ट रोगियों के निदान स्वरूप अपनी पहचान बनाये हुये है, तो वहीं इतिहास प्रसिद्ध ओरछा का राजा राम मन्दिर, मैहर की शारदा देवी, दतिया की पीताम्बरा देवी, गढ़कुण्डार की गिद्धवाहिनी देवी जैसे स्थल अपनी प्रसिद्ध के पर्याय बन गये है।

बुन्देलखण्ड में हिन्दू धर्म की व्यापकता के साथ–साथ जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में पारस्परिक सौहार्द दर्शनीय है। बौद्ध धर्म के अवशान के बाद जैन धर्म यहां नौवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक व्यापक रहा। देवगढ़, मदनपुर, मड़ावरा, चांदपुर, पावागिरि, दुधई, सीरोंन, खुर्द वानपुर, सोनागिरि, पयौरा, अहार एवं बड़ागांव, कुण्डलपुर, खजुराहो, करगुआं आदि स्थान इसके साक्ष्य है।

"हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विष्णु के नाम पर वैष्णव, शिव के नाम पर शैव, शक्ति या आद्या देवी के नाम पर शाक्त, गणपति के नाम पर गाणपत्य जैसे विभिन्न सम्प्रदायों का अभ्युदय जिस समन्वयवादी रूप में हिन्दू मंदिरों में हुआ है, वह कलात्मक होने के साथ–साथ पारस्परिक सामन्जस्यवादी दृष्टिकोण का प्रेरणादायक परिचायक है।"(1)

देवगढ़ के प्रसिद्ध दशावतर मंदिर से बुन्देलखण्ड में वैष्णव धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय होने का प्रमाण मिलता है। विष्णु से सम्बन्धित उनके विशिष्ट एवं विविध लोकप्रिय स्वरूप व अवतारों का चित्रांकन यहॉ भव्यता के साथ–साथ कलापूर्ण ढंग से हुआ है।

अतः बुन्देलखण्ड की पृष्ठभूमि में धार्मिकता आध्यात्मिकता का आधार बुन्देलखण्ड को विशेष कोटि में रखता है। जहॉ भगवान ने स्वतः अवतार लिया हो वहाँ का वैभव, वहाँ की संस्कृति एवं संस्कार वहॉ के कण–कण में रच–बस जाते हैं और वह क्षेत्र अलौकिक हो जाता है।

---

(1) बुन्देलखण्ड का इतिहास   महेन्द्र वर्मा   पृ0 सं0 21

(ब) बुन्देलखण्ड की भौगौलिक स्थिति

विश्व सिरमौर भारतवर्ष विभिन्न संस्कृतियों का पुंज है। भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के निर्माण में बुन्देलखण्ड का विशेष योगदान रहा है। भारत वर्ष का हृदय स्थल बुन्देलखण्ड जिसकी रत्नगर्भा बसुन्धरा में रत्नों का भण्डार छिपा हुआ है। आवश्यकता है उस उत्खनन की जो बुन्देलखण्ड के वैभव को, उसकी संस्कृति को, उसके शौर्य को उद्‌धाटित कर जन–जन के हृदय एवं मानस पटल पर इसकी महत्ता को अंकित कर सके।

बुन्देलखण्ड का इतिहास गौरव से परिपूर्ण है। बुन्देलखण्ड के भौगौलिक पर्यवेक्षण से प्रतीत होता है कि इस प्रदेश में इतिहास बोध ही पर्याप्त सामग्री है केवल बुन्देलखण्ड ही नहीं समग्र भारतीय इतिहास का समाज, जाति, संस्कृति और साहित्य के विकास में बड़ा महत्व है। भारतीय इतिहास पर अनेक ग्रंथ लिखे गये जो अत्यंत समृद्ध और विशद् होते हुये भी भारतीय इतिहास के कुछ काल की सामग्री को ही समेट पाये हैं। अतः इस काल की भौगौलिक सीमायों का परिचय अनुमान के आधार पर ही आश्रित है। प्राचीन भारत का इतिहास साहित्यिक ग्रंथों पुरातात्विक सामग्रियों पर ही आधारित है। भारतीय एवं अभारतीय साहित्य, भारतीय सामग्री अर्थात् साहित्य व इतिहास परक साहित्य तथा अभारतीय में विदेशी लेखकों के यात्रा वृतांत उल्लेखनीय हैं। भारतीय इतिहास लेखन में अभिलेखों, सिक्कों इमारतों, स्थापत्य, मंदिरों आदि के साथ पुराण, रामायण, महाभारत, उपपुराण को भी इतिहास का स्रोत माना गया है।

बुन्देलखण्ड की भौगौलिक सीमायों का निर्धारण करते समय भारतीय दृष्टि को भी सामने रखना आवश्यक है। "बुन्देलखण्ड उत्तरी अक्षांश 23^0–24^0 अंश तथा 26^0–50^0 अंश और पूर्वी देशान्तर 77^0–52^0 अंश व 80^0 अंश के मध्य स्थित है।"[1] यदि भारत वर्ष के मानचित्र को मानव शरीर के रूप में देखा जाये तो बुन्देलखण्ड उस चित्र के हृदय के स्थान पर पड़ता है। इसीलिये बुन्देलखण्ड को भारतवर्ष का हृदय स्थल कहा गया है। यह आर्यावर्त के दक्षिणी भाग में स्थित है। "यह उत्तर में आगरा और इटावा से लेकर दक्षिण में बालाघाट

---

(1) बुन्देलखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (831–1947 ई0) ए0क्यू0 मदनी पृ0 8

और छिन्दवाडा तथा पूर्व में छोटा नागपुर और उड़ीसा से लेकर पश्चिम में निमाड़ राजास्थान के बीच में है।"[1]

किसी भी भू भाग की भौगौलिक सीमायें निर्धारित करने में नदियों एवं पहाड़ों का विशेष महत्व होता है। बुन्देलखण्ड की सीमायें निर्धारित करने में भी दोहा प्रचलित है–

"इत चम्बल उत नर्मदा, इत जमुना उत टोंस।

छत्रसाल सौं लरन की, रही न काहू हौंस।।"[2]

बुन्देलखण्ड की उत्तरी सीमा निर्धारण करने में यमुना नदी को उत्तरी सीमा मानने में सभी विद्वान एकमत है तथा दक्षिणी सीमा नर्मदा मोटे रूप में मानी जाती है।[3] सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में एक बुझौबल भी प्रचलित है जिससे बुन्देलखण्ड की सीमायें ज्ञात होती है–

'भैस बंधी है ओरछा, पड़ा होसंगाबाद

लगवैया है सागरे, चपिया रेवा पार"।।[4]

इस बुझौबल का उत्तर बुन्देलखण्ड है। बुन्देलखण्ड में महाराजा छत्रसाल का एकक्षत्र राज्य था इसलिये उनके राज्य की सीमा भी वही रही है। इस राज्य की उत्तरी सीमायें गंगा एवं यमुना नदी बनाती हैं एवं दक्षिणी सीमा का निर्धारण नर्मदा नदी करती है, पश्चिमी सीमा का निर्धारण चम्बल नदी करती है लेकिन यह सीमा विन्ध्य मेखला तक पहुँचती है। इसकी पूर्वी सीमा का निर्धारण केन नदी करती है। इसको यदि एक अंश पूर्व की देशान्तर रेखा को सीमा मान लिया जाये तो कुछ अनुचित नहीं होगा। "इस पूरे क्षेत्र का क्षेत्रफल 51000 वर्गमील है।"[5]

---

(1) बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन –डॉ0 मोती लाल चौरसिया पृ0 सं0 1

(मुद्रक–मिनी ऑफसेट झांसी, प्रकाशक बी0के0तनेता क्लासिकल पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली)

(2) बुन्देलखण्ड दर्शन " मोती लाल त्रिपाठी पृ0 सं0 26 लक्ष्मी प्रकाशन झाँसी

(3) लिंगविस्टल ऑफ इण्डिया वाल्यूम 9 पृ0 सं0 86

(4) बुन्देली लोकगीत शिवसहाय चतुर्वेदी पृ0 सं0 1

(5) बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन मोती लाल चौरसिया, पृ0 सं0 18.

इस सम्बन्ध में आंग्ल भाषा के विद्वान जनरल कनिंघम का कहना है कि "गंगा यमुना के दक्षिण वेतबा नदी से लेकर मिर्जापुर के विन्ध्यवासिनी देवी के मंदिर तक का भू भाग बुन्देलखण्ड में शामिल था। नर्मदा से उत्पत्ति के निकटवर्ती सागर, चन्देरी तथा बिलहरी के जिले बुन्देलखण्ड में शामिल थे।"(1)

पर्वत तथा पठार बुन्देलखण्ड की पहचान हैं अर्थात बुन्देलखण्ड का अधिकांश भू भाग पर्वत तथा पठारों से आच्छादित है किन्तु इसके साथ समतल मैदान भी है, जो दक्षिण से उत्तर की ओर फैलते गये हैं यहां तक कि उत्तरी जिले जालौन तथा झांसी में भी बीहड़ जंगलो की कमी नहीं है। बुन्देलखण्ड में नदियों के कारण इनके समीपवर्ती इलाकों में बीहड़ अधिक है और इसी कारण बुन्देलखण्ड का अधिकांश भाग अनउपजाऊ है।

बुन्देली धरा में पर्वतीय क्षेत्र सर्वाधिक है इसी कारण बुन्देली भूमि में नालों तथा नदियों की संख्या अधिक है। बुन्देलखण्ड की प्रमुख नदी सिंध है जो मालवा में सिंरोज केपास से निकलकर कुछ दूर उत्तर की ओर चलने के बाद बुन्देलखण्ड की सीमा में मिलती है। यह नदी पुनः उत्तर पूर्व की ओर मुड़कर लगभग 150 मील बहती हुयी यमुना नदी में मिलती है, इसी के पास में लगभग 15–20 मील पूर्व की ओर इसी नदी की सहायक नदी पहूज है जो लगभग 120 मील दूरी तय करने के बाद सिंधु नदी के दाहिने किनारे पर मिलती है। इन दोनों नदियों के करीब–करीब बराबर 30–40 मील दूर पूर्व की ओर वेतवा नदी है यह ग्वालियर के पास से निकलकर 190 मील दूर बहती हुयी हमीरपुर जिला में यमुना से मिल जाती है। "बेतवा की दूसरी सहायक नदी बिरमा नदी है। जो यमुना के संगम तट के 6 मील पूर्व ही बेतवा में मिलती है। केन नदी दक्षिणी बुन्देलखण्ड से बहकर करीबन 130 मील दक्षिण से उत्तर बहने के बाद यमुना में मिलती है उर्मिला और चन्द्रमाला इसकी सहायक नदियां बायें किनारे पर मिलती हैं। सुदूर पूर्व में बागै तथा पयस्वनी नदियां हैं जो दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की ओर बहती हुयी यमुना से मिलती हैं।"(2) बुन्देलखण्ड के दक्षिण पूर्व

---

(1) एनिशियेन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया — पृ0 सं0 550, 553

(2) बुन्देलखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास — ए0क्यू0 मदनी पृ0सं0 11

में टोंस नदी है जो दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की ओर बहती हुयी गंगा में मिल जाती है। बुन्देलखण्ड की नदियों में केवल यमुना नदी ऐसी है जिसमें वर्ष पर्यन्त नावें चलती हैं और केन नदी में केवल वर्षा ऋतु में ही नावों का चलना संभव हो पाता है। "बुन्देलखण्ड की प्रमुख नदियां इस प्रकार है– चम्बल, सिंध, पहूंज, बेतवा, धसान, सुनार, केन और टोंस है।"[1] इसके अलावा तालाब और नाले है जिनमें नावों का चलना संभव नहीं है।

बुन्देलखण्ड की पहाड़िया सामान्यतः चौरस भूमि में एकाएक उठान लिये हुये त्रिकोणाकृति की हैं। ऐसी पहाड़ियां बांदा जिले के दक्षिण पश्चिम भाग में दिखलायी पड़ती हैं। केन नदी के आर–पार हमीरपुर, महोबा तथा जैतपुर तक ऐसी पहाड़ियों का विस्तार है। "बुन्देलखण्ड का प्रमुख पर्वत विन्ध्याचल पुराणों में भी अपनी विशेषतायों के लिये प्रसिद्ध है समस्त प्रदेश में पर्वत श्रेणियां विद्वमान है ये चार प्रकार की मानी जाती है–

(1) दक्षिण में विन्ध्याचल श्रेणी पश्चिम से पूर्व तक फैली है। इसकी चौड़ाई 12 मील और समुद्र सतह से ऊँचाई दो हजार फीट या इससे अधिक है।

(2) पन्ना श्रेणी।

(3) भाण्डेर का पहाड़।

(4) कैमूर श्रेणी– इसकी चौड़ाई 10 से 30 मील तक तथा समुद्र सतह से ऊँचाई एक हजार फीट से तीन हजार फीट तक है। बुन्देलखण्ड की पर्वतीय सीमाओं में उत्तर में विन्ध्याचल और दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत को भी माना जाता है।"[2]

विन्ध्य श्रेणी पर्वतमाला सिहोड़ नामक स्थान से शुरू होकर दक्षिण पश्चिम की ओर नरवर तक जाती है इसके बाद यह दक्षिण पूर्व की ओर मुड़कर पुनः उत्तर पूर्व की ओर मुड़ती है और अजयगढ़ तथा कालिंजर तक जाती है। पूर्व में यह श्रेणी वरगढ़ विन्ध्यवासिनी देवी सूर्यमहल और राजमहल तक गंगा नदी के किनारे –किनारे चली

---

(1) बुन्देली समाज और संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ०सं० 9

(2) बुन्देली समाज और संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ० सं० 8

जाती है। "यह लगभग 12 मील चौड़ी है समुद्र तल से इसकी ऊँचाई 2000 फीट से अधिक कहीं भी नहीं है। तारा तथा कटरा दर्रों के पास इसकी औसत ऊँचाई 520 फीट है।"[1] भूगर्भ वेत्ताओं की धारणा है कि इस श्रेणी का आधार अथवा निचला हिस्सा तथा ऊपरी भाग बालू की चट्टानों से निर्मित है। भूतत्व वेत्ताओं का यह भी मानना है कि बुन्देलखण्ड के वायव्य दिशा में पहले समुद्र रहा होगा वहां पर अब कछार बन गया है। बुन्देलखण्ड में विशेष रूप से तहदार चट्टानें पायी जाती हैं। " विन्ध्यपर्वत पर पायी जाने वाली चट्टानों के नाम उनके आस–पास के स्थानों से प्रसिद्ध है जैसे भाण्डेर का चूना पत्थर, गन्नौर गढ़ की चीपे, रीवा और पन्ना के चूने के पत्थर, कैमोर की मिश्रित जमीन और विजयगढ़ की चीपें जबलपुर के आस–पास पाया जाने वाला गौरा पत्थर भी इसी के अन्तर्गत आता है।[2]

पन्ना श्रेणी का प्रारम्भ दक्षिण में विन्ध्याचल से लेकर कर्बी तहसील तक जाता है। "कटरा दर्रा तथा लुहर गांव के बीच इसकी औसत ऊँचाई एक हजार पचास फीट है और लुहर गांव तथा पथरिया के बीच में यह श्रेणी समुद्रतल से बारह सौ फीट ऊँची है तथा दस मील चौड़ी है।"[3]

बुन्देलखण्ड में नगाधिराज हिमालय का अग्रज होने का श्रेय पर्वत राज़ विन्ध्यपर्वत को है इसी विन्ध्य पर्वत की तराई में स्थित होने के कारण इस भूमि का नामकरण बुन्देलखण्ड हुआ। वैदिक वांङ्मय एवं पुराणों में बुन्देलखण्ड को नौ ऊषर क्षेत्रों के वर्णन में वर्णित किया गया है–

"रेणुकाः शूकरः काशी,

काली काल बटेश्वरी।

---

(1) बुन्देलखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास ए0क्यू0 मदनी — पृ0 सं0 9

(2) बुन्देली समाज और संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ सं0 9

(3) बुन्देलखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास ए0क्यू0 मदनी — पृ0सं09

कालिंजरः महाकालः,

ऊषर नव मोक्षदः।।''[1]

''इन नौ क्षेत्रों में बुन्देलखण्ड को ऊषर पुनीत कहा गया है। ऊषर पुनीत का विस्तार राजस्थान से लेकर माणिक्यपुर तक जाता हैं इसे उत्तम काल ऊषर कहा गया है। यह उत्तरकाल ऊषर चार योजन लम्बा तथा दो हजार योजन चौड़ा देवर्षि तथा मुनियों से पूरित भव भय नाशक तथा भोग और मुक्ति को प्रदान करने वाला है।''[2]

वैदिक ग्रंथ एवं पुराणों से लेकर अर्वाचीन काल तक इसे विभिन्न नामों से जाना जाता रहा है। वर्तमान में इस भू–भाग का नाम बुन्देलखण्ड है इसका इतिहास चार पांच सौ वर्षो से अधिक पुराना नहीं है। काल क्रमानुसार ऐतिहासिक धार्मिक तथा राजनैतिक घटनाओं के कारण इस क्षेत्र का नाम समय–समय पर परिवर्तित होता रहा है। इतिहास के अवलोकन करने पर इस क्षेत्र के विभिन्न नाम जैसे चेदि देश, दशार्ण, जयजाक भुक्ति, यजुर्होती, जुझौति, जुझारखण्ड, विन्ध्यइलाखण्ड, विन्ध्येलखण्ड तथा बुन्देलखण्ड आदि है। ''दशार्ण, कदाचित इसका सबसे प्राचीन नाम है। 'दशार्ण' शब्द का कोशगत अर्थ–दस दुर्ग, दस जल स्रोत, नदी विशेष, तथा क्षत्रियों का विशेषण आदि है।''[3]

ईसा से पूर्व कात्यायन तथा कौटिल्य एवं कालीदास आदि ने अपने ग्रंथों में दशार्ण नाम का उल्लेख किया है। प्रषत्सर तर कम्बल वसनार्ण दशानः मूणे'' ''दशार्णो देशः नदी च दशार्णः'' यह वार्तिक सिद्धान्त कौमुदी में कात्यायन के नाम से लिखा है। दशार्ण शब्द का अर्थ है दस जलवाला या दस दुर्ग भूमि वाला देश है। ''ऋण शब्द दुर्ग भूमौ जले च इति यादवः'' इस प्रकार बुन्देलखण्ड का दशार्ण नाम दस नदियों के कारण पड़ा।''[4]

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन — मोती लाल त्रिपाठी 'अशान्त' — पृ0 सं0 12

(2) गौरवशाली कालपी — डॉ0 हरीमोहन पुरवार — पृ सं0 1–4

(3) बुन्देलीखण्डी लोकगीतों में सांगीतिक तत्व डॉ0 वीणा श्रीवास्तव — पृ0 सं0 31

(4) बुन्देलखण्ड दर्शन — मोती लाल त्रिपाठी 'अशान्त' — पृ0 सं0 12

"महाभाष्य के टीकाकार उद्भट् विद्वान वैम्यट ने 'दशार्ण' शब्द का विचार करते हुये लिखा है–

"दर्शाण शब्दों नदी विशेषस्य देश विशेषस्य च संज्ञा।" अर्थात नदी विशेष तथा देश विशेष का नाम दशार्ण है। इस कथन के अनुसार, यह नदी विशेष का और देश विशेष का भी नाम है। नदी विशेष के अर्थ में यह भू–भाग (बुन्देलखण्ड) में प्रवाहित होने वाली नदी 'धसान' का पूर्व नाम 'दशार्ण' जान पड़ता है। 'देश विशेष के अर्थ में यह वह देश है जिसमें दस नदियां प्रवाहित होती हैं। बुन्देलखण्ड निश्चित ही दस नदियों का देश है। जिला जालौन के जगम्मनपुर ग्राम के समीप चम्बल, पहूज, कालीसिंध और कुंवारी नामक नदियों का संगम यमुना से होता है। इस स्थान को पंचनद कहा जाता है शेष पांच नदियां वेत्रवती (वेतवा), मन्दाकिनी, केन, तमसा और धसान है। अतः इसका नाम 'दशार्ण' होने में भी एक बड़ी सीमा तक सत्यता दिखाई देती है।

इस भू क्षेत्र का पौराणिक नाम 'चेदि' देश भी था। जिसका वर्णन पुराणों एवं महाभारत के सभापर्व आदि में मिलता है और इस पुराण कालीन नाम से अधिकांश विद्वान एकमत हैं। मार्कण्डेय पुराण में वर्णित है कि विन्ध्यपर्वत पर अनेक जनपद थे। इन्ही जनपदों में से एक चेदि जनपद था। यह जनपद पूरे विन्ध्य श्रेणी में अपना सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। यह तत्कालीन सोलह जनपदों में से एक था। चेदि देश की सीमाओं को हम नदियों द्वारा भी व्यक्त कर सकते है. इस क्षेत्र की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी उत्तरी सीमा यमुना नदी,सोन नदी पूर्वी सीमा तथा पश्चिमी सीमा धषार्ण नदी निश्चित करती है। चेदि देश का सर्वाधिक प्रतापी राजा शिशुपाल था, जिसने कृष्ण की केन्द्रीय सत्ता को भरे राजदरबार में चुनौती देते हुये अपनी स्वतंत्रता को घोषित किया था। "महाभारत युद्धकाल तक चेदि राज्य की राजधानी 'शुक्तिमती' थी।"[1] चेदियों की वंशावली से पता चलता है कि ये भोजपुर के क्षत्रिय थे और इनका मुखिया दमघोष नामक

---

(1) बुन्देली समाज एवं संस्कृति   प्रो० बलभद्र तिवारी   पृ० सं० 3

व्यक्ति था। "इसके दो शक्तिशाली पुत्र थे शिशुपाल और पटश्रुवा।"[1] शिशुपाल चेदि देश का स्वतंत्र शासक बना तथा ये आरम्भ से ही वृष्णियों का शत्रु था, इसने कृष्ण का पर्याप्त विरोध किया था जिस कारण शिशुपाल का वध भगवान विष्णु अवतारी श्री कृष्ण ने किया था। "चेदि की सर्वाधिक चर्चा महाभारत के भीष्मपर्व, वनपर्व और सभापर्व में आयी है।"[2] इस आधार पर चेदि को बुन्देलखण्ड का पुराना रूप माना गया है, और इसे पुराणकालीन बुन्देलखण्ड की संज्ञा दी जा सकती है।

पौराणिक काल में बुन्देलखण्ड का नाम यजुर्होती था। "वैदिक कालीन युजर्वेदीय कर्मकाण्ड का यहीं पर अभ्युदय हुआ था।"[3] इसी कारण वश इस प्रदेश का नाम यजुहौति पड़ा जिसका बाद में अपभ्रंश होकर जीजभुक्ति यजुर्होति कहा जाने लगा। "आर्य संस्कृति में जीजाकभुक्ति, जीजभुक्ति तथा जुझौति आदि नामों से यह प्रदेश प्रतिष्ठित रहा है।"[4] "प्रसिद्ध चीनी यात्री हुऐनत्सांग ने अपने भारत भ्रमण (629–643 ई0) में इस क्षेत्र को 'जुझौति' नाम से सम्बोधित किया है।"[5] "डॉ0 अध्योध्या प्रसाद पाण्डेय ने "जुझौती' को बुन्देलखण्ड का प्रथम नाम माना है।"[6]

टॉलमि ने अपने वर्णन में सन्द्रावतिश प्रांत का विवरण दिया है, जो जेजाभुक्ति ही है। इसके वर्णन में अन्य नाम कुरपूरिना वस्तुतः खजुराहो अथवा खजुरपुर है, इसी प्रकार सर्वलोधा अथवा महोबा, नदुड़ागर, नरवर, तमसिस, कातपसित अथवा कांलिजर से अभिप्राय रहा होगा। कालिंजर वैदिक साहित्य में तपस्या का स्थान होने के कारण तमसितत कहा गया।

प्रसिद्ध इतिहासकार बी0ए0 स्मिथ की धारणा है कि आधुनिक बुन्देलखण्ड से उस सम्पूर्ण क्षेत्र का बोध होता है जिसमें चन्देल शासको ने राज्य किया था।

---

(1) बुन्देली समाज एवं संस्कृति — प्रो0 बलभद्र तिवारी — पृ0 सं0 4

(2) बुन्देली समाज और संस्कृति — प्रो0 बलभद्र तिवारी — पृ0 सं0 4

(3) बुन्देलखण्डी लोकगीतों में सांगीतिक तत्व डॉ0 वीणा श्रीवास्तव पृ0 सं0 32

(4) बुन्देलखण्ड दर्शन — मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त — पृ0 सं0 41

(5) हुऐनत्सांग का भारत भ्रमण — पृ0 सं0 634

(6) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास डॉ0 अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ0 सं0 5

वास्तुकला एवं मूर्तिकला मर्मज्ञ मुद्राशास्त्री तथा पुरातत्ववेत्ता प्रो0 कृष्णदत्त बाजपेयी अध्यक्ष प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग सागर, वि0 वि0 सागर का बुन्देलखण्ड के सम्बन्ध में कथन है 'चेदि' जनपद को चन्देलों के समय जेजाक भुक्ति (युर्जर्होति–जुझौति) एवं तत्पश्चात बुन्देलखण्ड की संज्ञा से अभिहित किया गया।"[1] किन्तु चन्देल नरेश परमार्दि देव के समय बुन्देलखण्ड का नाम जैजाक भुक्ति ही था, इस बात का प्रमाण इस प्रकार है–

बुन्देल वैभव नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ में बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि मदनपुर के सन 1822 ई0 के एक लेख से प्रकट है कि पृथ्वीराज चौहान और चन्देल परमार के युद्ध के समय भी यह देश जेजाक भुक्ति या शक्ति कहलाता था। मदनपुर शिलालेख में अंकित पंक्तियां इस प्रकार है–

'अरूण राज्य पौत्रेण श्री सोमेश्वर सुनना,
जैजाक भुक्ति देलोय पृथिवी राजेन लूनितान"

'समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में इस क्षेत्र का नाम 'आटव्य" दृष्टव्य होता है, तथा कहीं–कहीं कुछ लेखों में इसे 'वन्यदेश' के नाम से सम्बोधित किया गया है। 'चन्देल राजाओं की जेजाभुक्ति अथवा जेजाहुति साम्राज्य कभी महोत्सव नगर या महोबा के नाम से विख्यात था। बुन्देलखण्ड नाम पड़ने के सम्बन्ध में समस्त इतिहासकार एक मत नहीं है। इनमें विभिन्न मत है, पर इतना सर्वमान्य है कि बुन्देले ठाकुरों द्वारा इस क्षेत्र का नाम बुन्देलखण्ड पड़ा। बुन्देले ठाकुरों का इतिहास भी इतना प्राचीन नहीं है। चन्देलों के बाद बुन्देला शब्द का प्रार्दुभाव हुआ है। इतिहासकारों के मतानुसार बुन्देला राज्य का उदय ई0 शताब्दी से 14 वीं शताब्दी माना जाता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाये तो यह नाम 500–600 वर्षो से अधिक प्राचीन नहीं है। बुन्देलखण्ड के शाब्दिक अर्थ में वह क्षेत्र या वह भू–भाग जिस पर बुन्देले रहते हो, या वह क्षेत्र जिस पर बुन्देला ठाकुरों का शासन हों।

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन मोती लाल त्रिपाठी 'अशान्त' पृ0सं0 9

बुन्देले राजाओं द्वारा शासित प्रदेश को बुन्देलखण्ड कहा जाने लगा। बन्देलखण्ड राज्य की स्थापना सर्वप्रथम पंचमसिंह ने की। यह राज्य पहले गढ़कुण्डार में स्थापित हुआ बाद में इसकी राजधानी ओरछा बनाई गयी। उस समय ओरछा राज्य को ही बुन्देलखण्ड राज्य का प्रमुख केन्द्र माना जाता था। "बुन्देलों ने अपना राज्य इस क्षेत्र में सन 1128 ई0 में स्थापित किया इसके संस्थापक हेमकर्ण थे, जिन्हें पंचम सिंह के नाम से जाना जाता है।"[1] किन्तु डॉ0 आर0 पी0 अग्रवाल ने बुन्देली भाषा के शास्त्रीय अध्ययन में बुन्देल शब्द की व्युत्पत्ति "बूंद (बिन्दु) लः बुन्देला खण्ड बुन्देलखण्ड बतलायी है।[2]

कुछ इतिहासकारों का मत है कि आर्यों के आगमन के पूर्व यहां शवर राउट, रामठ, पुलिन्दों का निवास था और इन्हीं पुलिन्दों की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचलन इस क्षेत्र में था। उन्ही पुलिन्दों से बुन्देलखण्ड की व्युत्पत्ति हुयी। एक प्रसिद्ध विद्वान डॉ0 बागीश शास्त्री ने बुन्देलखण्ड की प्राचीनता नामक अपने ग्रंथ में कहा है कि "इस प्रदेश को कुछ विद्वान पुलिन्द जाति का मानते हैं। अतः पुलिन्द अपभ्रंश बोलिन्द और अपभ्रंश बुन्देल मानते हैं।"[3] परन्तु कुछ विद्वानों ने इस वंश की उत्पत्ति बाँदी के गर्भ से मानते हुये इसे हेय दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

"हीकतुल अकालीन के लेखक बुन्देलों को बांदी और गहरवार शाखा के वंशज से उत्पन्न मानते हैं तथा टॉड भी इसी का समर्थन करता है"।[4]

कुछ विद्वानों ने बुन्देलो को अन्यत्र ना खोजकर चन्देलों से बुन्देलों की व्युत्पत्ति माना हैं। बुन्देले कोई और नहीं हैं,। और ना ही उनका कही से प्रादुर्भाव हुआ

---

(1) बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन	*डॉ0 राधा कृष्ण बुन्देली*	*पृ0सं0 1*
(2) बुन्देलखण्ड का इतिहास	*मोती लाल त्रिपाठी*	*पृ0सं0 42*
(3) बुन्देलखण्ड का इतिहास	*मोती लाल त्रिपाठी*	*पृ0सं0 43*
(4) बुन्देली लोक काव्य	*डॉ0 बलभद्र त्रिपाठी*	*पृ0सं0 7*

है। बल्कि चन्देल ही बाद में बुन्देले कहलाये जाने लगे।

इस भू–भाग के बुन्देलखण्ड नाम की सार्थकता 700–800 वर्षों से अधिक पुरानी प्रतीत नही होती है। जनश्रुति के अनुसार बनारस के गहरवार वंशीय महाराज हेमकर्ण द्वितीय से जब उनके भाइयों द्वारा राज्य छीन लिया गया, तब उन्होने विन्ध्याचल पर्वत पर स्थित माँ विन्ध्यवासिनी की आराधना की तथा अपना सिर काटकर मां विन्ध्यवासिनी के श्री चरणों में अर्पित करने जा रहे थे, उसी समय महाराज हेमकर्ण द्वितीय के रक्त की कुछ बूंदे पृथ्वी पर गिरी इसी से मॉ विन्ध्यवासिनी ने प्रसन्न होकर, उन्हें राज्य प्राप्ति का वरदान दिया। अस्तु बूंद से राज्य मिलनें के कारण यह क्षेत्र बुन्देलखण्ड तथा राजा बुन्देले कहलाये। [1]

बुन्देलखण्ड के प्राचीन नाम तथा सीमा के सम्बन्ध में उपरलिखित विद्वानों के मतो पर विचारमंथनोपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अतीत में बुन्देला शासकों द्वारा शासित भू–भाग को बुन्देलखण्ड की संज्ञा से अभिहित किया गया, तथा बाद का सीमाकंन बुन्देली भाषी क्षेत्र को दृष्टि में रखकर किया गया है। चूंकि स्वतंत्र भारत में बुन्देलखण्ड की कोई स्वतंत्र राजकीय सीमा रेखा नहीं खींची गई है।

---

(1) बुन्देलखण्ड का इतिहास डॉ0 महेन्द्र वर्मा पृ0सं0 5

(स) बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रतिपल घटित होने वाली घटनायें चाहे वह प्राकृतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक या धार्मिक हो जिनसे मानव जीवन कहीं न कहीं प्रभावित होता है, इतिहास बनाती जाती हैं। अतीत में घटित होने वाली घटनाओं का क्रमबद्ध रूप इतिहास कहलाता है।

किसी भी राष्ट्र की ऐतिहासिक जानकारी के लिये साहित्यिक साक्ष्य, विदेशी यात्रियों के विवरण एवं पुरातत्व सम्बन्धी साक्ष्यों की अहम भूमिका आवश्यक है, इनके बिना इतिहास अधूरा है। ये सभी इतिहास के अंग हैं। इन्हीं साक्ष्यों के अन्वेषण के द्वारा हम उस समय की कल्पना करके उस क्षेत्र के इतिहास का निर्माण करते हैं।

बुन्देलखण्ड का इतिहास वीरता शौर्य एवं गर्व से परिपूर्ण है बुन्देलखण्ड के भौगौलिक पर्यवेक्षण से प्रतीत होता है कि–

विश्व की सबसे प्राचीनतम यदि कोई भूमि है तो वह बुन्देलखण्ड की भूमि है ऐसा वैज्ञानिक शोधों से सिद्ध हो चुका है। बुन्देलखण्ड की भूमि क्रोम्बियन युग की है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये अब किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं रह गयी है। करोड़ों वर्ष पूर्व सर्वप्रथम बुन्देलखण्ड का भू भाग ही जलावरण से ऊपर आया जरठ विन्ध्यराज इसका मूक साक्ष्य है। विन्ध्याचल भारत के समस्त पर्वतों का गुरू है। भू तत्व वेत्ताओं का मानना है कि विन्ध्य, अरावली और दक्षिण का पठार ही सबसे पुरानी रचना है। जबसे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है इस पृथ्वी पर घटनायें घटित होती रहती है युग बदलते रहते है। युगों में परिवर्तन होता रहता है, शासन, परम्परायें, राष्ट्र की सत्ता एवं समय परिवर्तनशील है। सन्दर्भ कोई भी हो वह नाम से सम्बन्धित हो, स्थिति से हो सीमांकन से हो, भाषा से, धर्म से, पौराणिक दृष्टि से या अन्य किसी से सम्बन्धित सभी भूतकालीन घटनायें या प्रसंग ऐतिहासिक रूप ले लेते हैं जिनके आधार पर हम वर्तमान को भूत से जोड़कर भविष्य को सोंप देते हैं।

ईसा पूर्व 321 तक वैदिक काल से लेकर मौर्य काल तक का इतिहास बुन्देलखण्ड का पौराणिक इतिहास माना जा सकता है जिसके साक्ष्य समस्त पौराणिक ग्रंथ है। मौर्य वंश के शासन के पश्चात समस्त इतिहास राजनैतिक इतिहास के रूप में जाना जाता है। "राजनैतिक इतिहास में घटनाओं के सन्दर्भ में सामग्री का चयन पुरातात्विक तथ्यों विदेशियों के यात्रा विवरणों, तत्कालीन या परिवर्ती साहित्यिक ग्रंथों, राजवंशो के शिलालेखों, ताम्रपत्रों से किये जाने के कारण वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव रहा है।"[1]

प्राचीन काल में इस भूमि का अधिकतर भाग वनों से आच्छादित था। भारत वर्ष में देश के तीन प्रमुख वनप्रांत माने गये है नैमिषारण्य, तुंगारण्य और दण्डिकारण्य। बुन्देलखण्ड का यह भू–भाग तुंगारण्य के अन्तर्गत आता था, जिसकी सीमायें ओरछा से लेकर चित्रकूट तक जाती थीं। चित्रकूट के बाद "इस वन प्रांत में अनेक ऋषियों के आश्रम थे जिनमें पाराशर, वेदव्यास, कर्दम, च्यवन, जमदग्नि आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय थे। इस समय इस क्षेत्र में वनवासी जातियां पुलिन्द, शबर, कोल, गौंड, निषाद आदि निवास करती थी। इस क्षेत्र में पाये गये लगभग एक सहस्त्र शैलाश्रयों में पाषाणयुगीन उपकरणों तथा आयुधों से इन वनवासी जातियों की जीवन शैली और संस्कृति के विषय में विस्तृत जानकारी मिली है।"[2]

बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक चित्रपटल पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि "बुन्देलखण्ड में चार लाख वर्षों के प्राचीन अनार्य (असभ्य) लोगों के चिन्ह पाये गये हैं।"[3] यह तथ्य भी प्रकाश में आया है कि इसी तारतम्य में मानवोचित ज्ञान की आरम्भिक शिक्षा की सीमा पर पदार्पण करके "सर्वप्रथम शिकार आदि में सुविधा के विचार

---

(1) बुन्देली समाज और संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ० सं० 23

(2) सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड — अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' — पृ० सं० 12

(3) सहयोग पत्रिका वर्ष 1999 बुन्देलखण्ड की इतिहास यात्रा — पृ० स० 53

से तीरों के लिये फल तथा कुल्हाड़ी छुरे आदि बनाये थे। ऐसे प्रस्तर खण्ड अस्त्र–शस्त्र बुन्देलखण्ड में कई स्थानों में मिले हैं।''(1)

वैदिक काल में वैवस्वत मनु की पुत्री इनका नाम इला था। इसका विवाह सोम से हुआ था। इसी इला से चंद्रवंश की स्थापना हुयी जिसका आदि पुरूष पुरूरवा था। जिसने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुये वर्तमान बुन्देलखण्ड क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। इनके पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज और उसके नाती ने काशी में चंद्रवंश के अलग–अलग राज्य स्थापित किये। इनका प्रतापी सम्राट ययाति था। ययाति के पांच पुत्र हुये जिनका वर्णन ऋग्वेद में है ये पुत्र क्रमशः यदु, तुर्वसु, दुह्रयु, अनु और पुरू थे। ये पांचो पुत्र अत्यंत शक्तिशाली एवं प्रतापी थे। इन पांचो पुत्रों के राज्यों का विवरण विष्णुपुराण में उल्लिखित है – ''गंगा जमुना के मध्य का देश पुरू को प्राप्त हुआ जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। यदु ने दक्षिण पश्चिम का वह देश पाया जिसमें चर्मण्यवती (चंबल) वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) नामक नदियां है जो यथार्थ में बुन्देलखण्ड का प्रधान भूखण्ड है। दुह्रयु ने चम्बल के उत्तर और यमुना के दक्षिण का देश पाया, अनु को गंगा यमुना के मैदानी भू–भाग का देश मिला और तुर्वसु को दक्षिण–पूर्व का रेवा तटवर्ती देश दिया गया।''(2)

इन पांचो पुत्रों में यदु के वंश विस्तारण से यादव और हैहय का प्रादुर्भाव हुआ। यदु वंश के राजा कौशिक ने परम्परानुसार चर्मण्यवती (चंबल) और शुक्तिमती (केन) के बीच का भू–भाग (अर्थात बुन्देलखण्ड) में अपना राज्य स्थापित किया जो कि आगे चलकर सोडष महाजनपदो का प्रमुख जनपद चेदि जनपद कहलाया। ''इसी काल में विदर्भ के एक प्रसिद्ध राजा भीमरथ की सुन्दर कन्या दमयन्ती से नलपुर के राजा नल ने विवाह किया था।(3) ''अनुश्रुति के अनुसार नल ने ही नलपुर नगर बसाया था, जो कि

---

(1) बुन्देलखण्ड का इतिहास — दीवान प्रतिपाल सिंह — पृ0 सं0 326

(2) बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन डॉ0 मोती लाल चौरसिया — पृ0सं0 20

(3) सांस्कृति बुन्देलखण्ड — अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' — पृ0 सं0 12

आधुनिक शिवपुरी जिले में नरवर के रूप में विद्यमान है।"[1]

उक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि बुन्देलखण्ड में पौराणिक काल में प्रसिद्ध शासकों का ही आधिपत्य रहा। जिनमें चन्द्रवंशी राजाओं की विस्तृत जानकारी मिलती है। महाभारत में विदित है कि ययाति के पुत्र यदु के शासन के अनंतर बुन्देलखण्ड का राज्य उस समय चंद्रवंशी वसु उपरिचर के हाथों में था, जो कि पुरूवंशी था।

महाराजा दमघोष जो कि तत्कालीन भारतीय प्रधान नरेशों में से एक था। जिसे श्री कृष्ण की बुआ (फूफी) ब्याही गयीं थीं। राजा दमघोष महाभारत के युद्ध के समय चेदि जनपद का नरेश था। महान, प्रचण्ड, उद्त शिशुपाल प्रतापी नरेश दमघोष का पुत्र था। "भीष्म द्वारा सर्वप्रथम पूंजनीय प्रतिष्ठा के हेतु श्री कृष्ण का नाम घोषित किये जाने पर उसका खुला विरोध किया था और वह श्री कृष्ण के द्वारा मारा गया था। उस समय शिशुपाल के विषय में श्री कृष्ण ने जो कहा है उससे चेदि राष्ट्र की शक्ति और प्रमुखता का पता चलता है।"[2] धर्म ग्रन्थों में चेदि राष्ट्र का उल्लेख विस्तार से 'चेतिया रठ्ठ' (चेदि राष्ट्र) के नाम से जाना जाता था। यह बुद्ध कालीन सोलह जनपदों में से एक था। इसके पूर्वोत्तर में वत्स एवं कौशाम्बी पश्चिम में अवंति उत्तर–पश्चिम में मत्स्य तथा सूरसेन तथा दक्षिण में विन्ध्यपर्वत था। बौद्ध कालीन चेदि जनपद को आधुनिक बुन्देलखण्ड से समीकृत किया गया है। "बौद्ध ग्रंथों के अनुसार भगवान बुद्ध ने अपने तेरहवें और उन्नीसवें वर्षाकाल बेतवा के आंचल में चेदि राज्य के भद्रावती नामक स्थान के चालुक्य पर्वत पर व्यतीत किये थे। अशोक कुमार मौदगल्यायन और राजकुमारी संघमित्रा का लालन–पालन और शिक्षा संस्कार यहीं हुये और यहां की अपनी पाली भाषा में लिखित ग्रंथों को लेकर वे सुदूर देशों में धर्म प्रचारार्थ गये थे। यहीं से ईसा से नब्बे वर्ष

---

(1) मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ डॉ0 राजकुमार वर्मा पृ0 सं0 9

(2) महाभारत सभापर्व अध्याय 45 श्लोक 6–10

पूर्व राजदूत हैलियो डोरस ने विदिशा में महाराज भागभद्र के दरबार में भागवत धर्म की दीक्षा ली थी और आन्तरिक आस्था के गरूणध्वज की स्थापना की थी।"[1]

बुन्देलखण्ड में प्राप्त ततयुगीन अवशेषों में स्पष्ट है कि बुन्देलखण्ड के सीमांकन में बौद्ध कालीन इतिहास के सम्बन्ध में कोई लक्षणीय परिवर्तन नहीं हुआ था। अवन्ति के शासकों का महत्व दर्शाया जाना चेदि की चर्चा न होना इस बात का प्रमाण हैं पौराणिक युग का चेदि जनपद ही प्राचीन बुन्देलखण्ड है।

भारत के प्राचीन इतिहास से स्पष्ट होता है कि इन सोलह महाजनपदों में चेदि और दशार्ण जनपद भी सत्तात्मक राज्य थे। इनकी राजसंस्था अन्य तत्कालीन राज्यों के ही समान थी। राजा का चुनाव प्रजा द्वारा होता था परन्तु वह व्यक्ति (राजा) राज घराने का ही होता था।

विक्रम सम्वत् के लगभग 300 वर्ष पहले मगध का राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया था। भगवान बुद्ध के देहान्त हुये 450 वर्ष बीत चुके थे जब सिकन्दर ने यूनान से चढ़ाई की थी। इस समय नन्द घराने का राजा राज्य करता था। इस समय बुन्देलखण्ड की स्थिति क्या थी यह नहीं कहा जा सकता। सिकन्दर के लौट जाने के पश्चात प्राचीन राजघराने का एक युवक जिसका नाम चन्द्रगुप्त मौर्य था। नंद वंश के शासक को मार कर स्वयं राजा बन गया। "चन्द्रगुप्त अत्यन्त ही बुद्धिमान एवं पराक्रमी राजा था। इसका मंत्री कौटिल्य था जो अपनी अर्थ शास्त्रीय नीति के कारण 'चाणक्य' के नाम से जग में प्रसिद्ध हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में नर्मदा के उत्तर का भाग आ गया था। चन्द्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र बिन्दुसार विक्रम संवत 240 वर्ष पूर्व साम्राज्य का अधिकारी हुआ।"[2] बुन्देलखण्ड में मौर्य साम्राज्य का भी अस्तित्व रहा है

---

(1) बुन्देलखण्ड की जीवन रेखा वेत्रवती (मध्यप्रदेश दीपावली विशेषांक 1970) श्री हरगोविन्द गुप्त पृ0 सं0 112

(2) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास गोरेलाल तिवारी पृ0सं0 6

क्योंकि "मौर्य साम्राज्य बड़ा होने के कारण उसके चार बड़े विभाग थे। प्रत्येक विभाग की राजधानी में साम्राज्य की ओर से एक शासक नियुक्त रहता था। बिन्दुसार के राज्यकाल में उसका पुत्र उज्जैन का शासक नियुक्त किया गया था। यही अपने पिता के मरने पर साम्राज्य का अधिकारी हुआ।"[1] मौर्य कालीन भारत का इतिहास प्रमाणिकता और पुष्टिता लिये हुये है। अशोक का उज्जैन में रहना और विदिशा पर उसके आधिपत्य के प्रमाण सुलभ है। "अशोक ने विदिशा के एक साहूकार की कन्या से विवाह किया था। इस कन्या ने अशोक कुमार मौदगल्यायन और संघमित्रा को जन्म दिया था। जिन्होनें लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।"[2] मौर्य साम्राज्य के सर्वाधिक प्रतापी एवं धर्मनिष्ठ राज अशोक ने बुन्देलखण्ड में अनेक स्थानों पर विहारों, मठों आदि का निर्माण कराया था। वर्तमान गुगी (गोलकी मठ) अशोक के समय का सबसे बड़ा बिहार था। शंकरगढ़ (नागौद राज्य) में भी बौद्ध बिहार थे। अशोक ने अपनी पुत्री 'रानी देवी' के लिये उज्जैन में एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया था। इस स्तूप के भग्नावशेष आज भी 'वैश्य टेकरी' नामक टीले के रूप में विद्यमान हैं। इस टीले के उत्खनन से इस स्तूप के अवशेष प्राप्त किये गये है। सांची के स्तूप के निकट एक अन्य विहार के भी अवशेष प्राप्त हुये है। विद्वानों के अनुसार यह विहार संभवतः " अशोक की 'रानी देवी' तथा उसकी सहचरी भिक्षुणियों के निवास के लिये बनवाया गया था।"[3] अशोक के उपरान्त परिवर्ती मौर्यशासक दुर्बल थे और विदेशियों से अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ हुये।

मौर्य वंश के अंतिम शासक बृहद्रथ की उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने हत्या कर दी और स्वंय शासक बन गया। "इस प्रकार शुंगों के राज्य का आरम्भ विक्रम

---

(1) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास गोरेलाल तिवारी पृ०सं० 10

(2)प्राचीन बुन्देलखण्ड (एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण मध्यदेश दीपावली विशेषांक1970) डॉ० भगवान दास गुप्त पृ० सं० 12

(3) मध्य प्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रन्थ डॉ० राजकुमार शर्मा पृ० सं० 12, 13

संवत 426 वर्ष पूर्व हुआ। यह वंश जाति का ब्राहमण था।"[1] "बृहद्थों को भास्कर पुष्यमित्र का राज्य कायम होना वाण के 'हर्षचरित' से भी समर्पित है।"[2] इसी तारतम्य में यह तथ्य भी है कि राजकुमार अग्निमित्र विदेश में राज्य पारण के रूप में नियुक्त था, जहां से बुन्देलखण्ड तथा पूर्वी मालवा का शासन चलाता था। संभवतः शुंगों के ही समय यवनों के आक्रमण हुये। यवनों के आक्रमण का उल्लेख पंतजलि के 'महाभाष्य' में भी हुआ है। इससे यह क्षेत्र भी प्रभावित हुआ होगा। बुन्देलखण्ड के हमीरपुर जिले के ग्राम पचोखरा से मिले इण्डोग्रीक सिक्के इस बात को बल देते है कि इस क्षेत्र में यवन राजाओं का शासन रहा होगा। नागवंशीय सिक्कों पर ग्यारह नाग राजाओं के नाम मिलते है। जो इस प्रकार है– वृष, मीन, स्कन्द, वंसु, बृहस्पति, विभु, रवि, भव, प्रभाकर देन और गणपति नाग राजाओं ने इस पूरे प्रदेश पर दूसरी शताब्दी के अन्त से चौथी शताब्दी तक राज्य किया। कुछ विद्वानों का मत है कि बुन्देलखण्ड के क्षेत्र पर गुप्त राजाओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम समुद्रगुप्त का ही आधिपत्य स्थापित हुआ था। उसकी प्रयाग– प्रशस्ति में गणपति, नाग, नागसेन जैसे राजाओं को पराजित करने का उल्लेख है। समुद्रगुप्त (335–375ई0) का एरण अभिलेख इस बात का प्रमाण है कि उस समय तक यह क्षेत्र साम्राज्य का अंग बन चुका था। इस क्षेत्र से समुद्रगुप्त के सिक्के भी प्राप्त हुये है। यहां पर यह तथ्य विचारणीय है कि 'एरण की भौगौलिक स्थिति महत्वपूर्ण थी। एरण एक ओर मालवा तथा दूसरी ओर बुन्देलखण्ड का प्रवेश द्वारा माना जाता था। उज्जैयिनी से एक राजमार्ग विदिशा तक जाता था, जो विदिशा से एरण होता हुआ दशार्ण, कौशाम्बी और काशी तक जाता था।

बुन्देलखण्ड के एरण क्षेत्र के उत्खनन में कई प्रकार के सिक्के प्राप्त हुये है। जिनमें कुछ गुप्त कालीन थे तथा कुछ "सिक्कों तथा ईटों के माध्यम से मित्रवंश की

---

(1) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास गोरेलाल तिवारी पृ0 सं0 10

(2) हर्ष चरित (बूलर का अनुवाद) पृ0 सं0 143

नयी नामावली मिल जाने से इतिहास में एक नये अध्याय का प्रगटीकरण हुआ है।"[1] अब तक के हुये अन्वेषण में इन्हें शुंग वंश से अलग वंश का बतलाया गया है। इनका शासन काल लगभग 200 से 50 वर्ष ई0 पूर्व प्रकाश में आया है।

दशार्ण क्षेत्र में सत्ता का केन्द्र बने एरिच को बौद्ध ग्रंथों में "एरिकच्छ' तथा 'एरिकछ' नाम दिया गया है। सिक्कों के अनुसार यहां के शासकों को 'दशार्णेश्वर', 'दशार्णाधिपति', 'महासेनापति' की उपाधि दी गयी है।"[2] "पूर्वी मालवा की सीमा रेखा पर स्थिति होने के कारण वह क्षेत्र, दशार्ण को चेदि जनपद से जोड़ता था।"[3] नाग राजाओं का कार्यकाल विक्रम संवत 56 से मीन नाग के समय से नाग वंश के अन्तिम राजा देवनाग विक्रम संवत 266 तक रहा है। इस नाग वंश के छठवें राजा गणपति नाग (वि0 सं0 202) के समय से ही समुद्र गुप्त ने इसे अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया था। इसका वर्णन इलाहाबाद के विजय स्तम्भ में अंकित है।

ईसा से लगभग 75 वर्ष पूर्व कण्व वंश ने शुंग वंश के पतन के उपरान्त यहां अपना राज्य स्थापित किया। कण्व वंशीय मूलतः दक्षिण भारत के निवासी थे। दक्षिण भारत से इन्हें सातवाहन शासकों ने अपदस्थ करके वहां सातवाहन संस्कृति का प्रचार प्रसार किया। कण्व वंश के पश्चात बुन्देलखण्ड के भू-भाग पर शक- छत्रों का शासन प्रारम्भ हुआ। "शक-छत्रप श्री दामन के सिक्के पिछोर से मिले है +++ तथा विदिशा एरण क्षेत्र में राज्य करते हुये एक नये शक वंश के शासक श्रीधर वर्णन का एक अभिलेख एरण से, दूसरा साँची के निकट कानाखेरा से प्राप्त हुआ है।"[4] जबलपुर के भेड़ाघाट नामक स्थान से कुछ मूर्तियां प्राप्त हुयी है। जिन पर यह अंकित है कि इन मूर्तियों की

(1) आर्कियोलाजी ऑफ एरचं ओ0 पी0 लाल

(2) एरिच के प्राचीन इतिहास और सिक्के 'चातक' मोहन लाल गुप्त पृ0 सं0 9

(3) मध्यप्रदेश के नावंशीय सिक्के अंतिमा बाजपेयी पृ0 सं0 2

(4) मध्य प्रदेश के पुरातत्व का संदर्भग्रन्थ डॉ0 राजकुमार शर्मा पृ0 सं0 24-25

स्थापना भूमक की पुत्री ने की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भूमक का राज्य यहां तक रहा होगा। इससे यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि पूरे बुन्देलखण्ड पर शक लोगों का राज्य हो गया था। मालवा का यह पहला शक–छत्रप चेक्टन था, जिसने विक्रम सम्बत 132 में उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। विक्रम संवत 358 तक मालवा पर महा क्षत्रपों का राज्य रहा। एरिच, एरण और विदिशा से नागवशी शासकों के सिक्कों से यह स्पष्ट होता है कि ये शासक शैवमतालंबी थे। इन शासकों का राजचिन्ह दो सर्पो के मध्य शिवलिंग था। इस कारण ये 'मारशिव' भी कहलाये जाते थे। इन शासकों की राजधानी (वर्तमान जिला–चित्रकूट के वरगढ़) भारगढ़ में थी। नचना कांचन (पन्ना) तथा देवरदार (टीकमगढ़) में इस राजवंश के कलात्मक निर्माण पुरातत्व बिभाग की अनमोल धरोहर है।

इसी तारतम्य में (झांसी जिला) चिरगांव से 10 किलोमीटर दूर बेतवानदी के उस पार बीजोर–बागाट (जिला–टीकमगढ़) स्थित है। वहां के शैल गुहा क्षेत्र में वाकाटक वंश के उद्भव के प्रमाण मिले है। ''इन्हीं वाकाटक शासकों ने अजन्ता में गुफाओं का निर्माण करवाया था। ''उनकी वैसी ही गेरूए रंग की शैल चित्रकला बागार की द्रोण–तलैया की गुफाओं में मिलती हैं।''[1] सुबिख्यात इतिहासकार डॉ0 काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'अधंकार युगीन भारत' में इन शासकों को द्रोण का वंशज होने की बात कही है तथा 'बाकाटक' से 'बागार' नामकरण होने का संकेत भी दिया है। इस वंश का प्रतापी शासक भीमसेन था। जिसने पूर्वी बुन्देलखण्ड के क्षेत्र को जीतकर किलकिला नदी के तट पर बसे पन्ना को अपना केन्द्र बनाया और यहीं पर इसने 'विन्ध्यशक्ति' की उपाधि धारण की थी। ''प्रवर सेन का विवाह नागवंशी राजकुमारी (भगवान की पुत्री) गौतमी से हुआ तथा उसे नागवंशी राज्य का एक भाग उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ।[2]

---

(1) अंधकार युगीन भारत डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल पृ0 सं0. 125

(2) बुन्देलखण्ड:साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव डॉ0रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ0 सं0156

प्रवरसेन का राज्य बहुत बड़ा था। इसने उत्तर से यमुना और आधुनिक बुन्देलखण्ड से लेकर दक्षिण में हैदराबाद तक का भू–भाग विजित किया था। प्रवरसेन ने चार अश्वमेघ यज्ञ किये थे तथा 'सम्राट' की उपाधि धारण की थी। तत्कालीन गुप्त सम्राटों की तरह वाकाटक भी शक्तिशाली थे। इसका साक्ष्य इलाहाबाद प्रशस्ति में कहीं भी बाकाटकों पर गुप्तों की विजय का उल्लेख नहीं है। समुद्रगुप्त जब अपनी दक्षिण विजय यात्रा पर निकला तो वाकाटक साम्राज्य की सीमाओं को बचाता हुआ गया था। वाकाटक और गुप्त शासकों के मध्य मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री 'प्रभावती' का विवाह वाकाटक सम्राट रूद्रसेन द्वितीय से किया था। इस विवाहोपरान्त इन शासकों के सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गये थे। बुन्देलखण्ड के झांसी के एरच ग्राम से प्राप्त सिक्कों से स्पष्ट होता है कि वाकाटकों के शासन के पूर्व इस क्षेत्र पर कुषाणों का अधिपत्य था। कुषाणवंश का अंतिम शासक निष्पल था। जिसके मरते ही बुन्देलखण्ड से कुषाणों का राज्य प्रायतः समाप्त हो गया था। इसी समय मगध में मुक्त राजा की शक्ति बढ़ने लगी, मगध में इस समय गुप्तों का साम्राज्य था। बुन्देलखण्ड गुप्तों की उस ताकत से अछूता न रहा, यहां पर गुप्त साम्राज्य का अधिकार हो गया था।

समुद्र गुप्त की मृत्यु के पश्चात चन्द्रगुप्त द्वितीय (वि0 सं 431) गद्दी पर बैठा, और राज्य की विस्तार वादी परम्परा को आगे बढ़ाया। उदयगिरि, गठवा तथा सांची के लेख इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि, यह क्षेत्र गुप्त साम्राज्य के आधिपत्य में था। 319 ई0 से पांचवी शताब्दी तक यह क्षेत्र गुप्त सम्राटों के अधीन रहा। यहां पर उनके द्वारा बनवाये गये भगवान विष्णु का दशावतार मंदिर (देवगढ़) जैसे भव्य अवशेष आज भी विद्यमान है। गुप्त शासक वैष्णव धर्माम्बलम्बी थे। इन्होने 'परमभागवत' 'परम भट्टारक' आदि उपाधि धारण की थी। गुप्तकाल भारत का 'स्वर्णयुग' था। ऐरण में स्थापित बुधगुप्त का प्रशस्ति लेख भी इस अंचल में भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग में गुप्त शासकों के कृतित्व का उल्लेख करता है। "गुप्तशासक मातृविष्णु के निधनोपरान्त उनके भाई धान्य

विष्णु ने अपनी सत्ता हूणराज तोंरमाण को हस्तान्तरित करके इस क्षेत्र को हूणों के अधीन बनाया किन्तु सम्राट नरसिंह बालादित्य ने तोरमाण के पुत्र एवं उत्तराधिकारी मिहिरकुल को पराजित कर दिया। जिससे वह मध्य भारत छोड़कर कश्मीर की ओर चला गया।''[1] हूणो का राज्य काल 50 वर्ष से अधिक नही रहा कालिंजर तथा भंडसर के शिलालेख इस बात का प्रमाण है।''[2] बुन्देलखण्ड में प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ''पांचवी सदी में जब उत्तर भारत पर गुप्तों का आधिपत्य था, उस समय पन्ना जिले में परिब्राजक नामक वंश के राजाओं का राज्य चल रहा था। ये गुप्त सम्राटों के माण्डकिल हो गये थे, तथा उनकी प्रभुसत्ता स्वीकार करते थें।''[3]

गुप्त शासन काल कें उपरान्त बुन्देलखण्ड के शासकों के सम्बन्ध में हर्षवर्धन के पूर्व का समय अंधकार मय है। ''हर्ष वर्धन के शासन काल में चीनी यात्री हवेनसांग भारत आया था, उसके यात्रा विवरण में बुन्देलखण्ड का शासन ब्राहमण राजा के द्वारा चलाया जाना बताया गया है।''[4] समूचे बुन्देलखण्ड क्षेत्र पर हर्षवर्धन का राज्य था। इसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। हर्ष के शासन काल में इस क्षेत्र में कला, संस्कृति का पर्याप्त विकास हुआ। हर्ष का राजकवि 'वाणभट्ट' था। वाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'हर्ष चरित' में विन्ध्य क्षेत्र का विस्तार से वर्णन किया है।

वर्धन काल में ही ''कालपी के निकट पुराण कालीन कालप्रिय नाथ 'सूर्यमन्दिर' का पुनर्निर्माण हुआ तथा वहां लगने वाले चर्चित वार्षिक मेला 'कालप्रियनाथ–यात्रा' के दौरान भवभूति के नाटक 'उत्तर राम चरितम्' का प्रथम मंचन एवं अन्य नाटकों का मंचन हुआ।''[5] हर्ष के शासन की अन्य जानकारी हवेनसांग की

---

(1) कालिंजर थ्रू एजिज दी ग्लोरी दैट बाज बुन्देलखण्ड डॉ0 ए0के0 अग्रवाल पृ0सं0400

(2) मध्यप्रदेश के नागवंशीय सिक्के — अंतिमा बाजपेई — पृ0 सं0 2

(3) मध्य प्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रन्थ — डॉ0 राजकुमार शर्मा — पृ0 सं0 43

(4) बुन्देली समाज एवं संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ0 सं0 28

(5) सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड – अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' — पृ0सं016

भारत यात्रा नामक पुस्तक में मिलती है। हवेनसांग ने इस क्षेत्र को 'चिचिन्टो' से सम्बोधित किया है। हर्ष के शासन के बाद अराजकता की स्थिति में बुन्देलखण्ड पर धार नरेश भोज (9 वीं शताब्दी के भोज से भिन्न) अपना आधिपत्य किया। इनके बाद सूरजपाल कछवाहा, तेजकर्ण, बज्रदामा, कीर्तिराज आदि शासक हुये पर इन्होंने कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं किया।"[1]

वर्धन काल के पश्चात सम्पूर्ण भारत की राजनैतिक दशा छिन्न–भिन्न हो गयी थी। भारत में छोटे–छोटे राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर ली और वहां नये शासकों का अभ्युदय होना आरम्भ हो गया। इस समय यशोवर्मन, आयुध राजकुल, प्रतिहार, गाहढ़वाल, शाकम्भरी के चौहान आदि शासक हुये। तत्कालीन समय में देश पर मुस्लिम आक्रमण भी हुये। "मध्यकाल तक आसाम में भाष्कर वर्म्मन, बंगाल में पाल राजकुल का प्रभाव बढ़ा तो त्रिपुरी में कलचुरि, जेजाभुक्ति (बुन्देलखण्ड) में चन्देल, मालवा में परमार तथा अन्हिलवाड़ में चालुक्य राजकुलों की शक्ति में संवर्द्धन हुआ।"[2] कलचुरियो एवं चन्देलों का शासन बुन्देलखण्ड में दीर्घकाल तक रहा। कलचुरियों की मुख्यतः दो शाखायें थी– रत्नपुर के कलचुरि और त्रिपुरी के कलचुरि बुन्देलखण्ड में त्रिपुरी के कलचुरियों का विशेष महत्व है। यह वंश पुराणों में प्रसिद्ध हैहयवंशी कार्तवीर्य अर्जुन की परम्परा में माना जाता है। इस वंश के संस्थापक महाराज कोक्कल थे। इन्होनें त्रिपुरी (जबलपुर के पास) को अपनी राजधानी बनाया था, इसीलिये यह वंश त्रिपुरी के कलचुरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। "प्राचीन काल में नर्मदा के शीर्ष स्थानीय प्रदेश से मानदी के प्रदेश का विस्तृत भू–भाग चेदि जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। मध्यकाल में इसे 'डहाल' कहा जाने लगा।"[3] कोक्कल स्वयं में शक्तिशाली, ज्ञानी, उत्साही एवं

---

(1) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास — गोरेलाल तिवारी — पृ०सं० 28–30

(2) बुन्देली समाज एवं संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ० सं० 28

(3) विन्ध्य भूमि (1956 विशेषांक) — डॉ० वासुदेव अग्रवाल पृ० सं० 43

दूरदृष्टि वाला शासक था। तत्कालीन समय में उत्तर के चन्देलों की शक्ति बढ़ रही थी इससे कोक्कल ने अपने राज्य की सुरक्षा हेतु एवं चन्देलों की शक्ति का लाभ उठाते हुये चंदेल कुमारी नट्टा देवी से विवाह कर लिया।

कलचुरियों में लक्ष्मणदेव, गांगेय देव, कर्ण, गयाकर्ण, नरसिंह, जयसिंह आदि का शासन काल समृद्धिपूर्ण माना जाता है। कलचुरियों का शासन 300 वर्ष तक रहा, जिसे देवगढ़ के राजा ने 1200 के लगभग समाप्त कर दिया। अतः कलचुरि शासनकाल में बुन्देलखण्ड को दो भागों में बांटा गया, फिर एकीकरण किया गया तथा तत्कालीन समय में यह चन्देलों के अधीन हो गया। "हर्षवर्धन के समय चन्देल राज्य एक छोटी सी इकाई थी परन्तु उसके विस्तार पाकर दसवीं शताब्दी तक एक शक्तिशाली राज्य बन गया।"(1)

इसके पश्चात बुन्देलखण्ड में गौरवशाली चंदेल वंश का उदय हुआ। चंदेलों की राजधानी महोत्सब नगर (वर्तमान महोबा) थी। एक जनश्रुति के अनुसार हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात गहरवालों ने इस पर अधिकार कर लिया था। परिहारों ने गहरवारों को पराजित किया था। स्मिथ एवं कनिंघम ने भी इस जनश्रुति का समर्थन किया है। इसी प्रकार "कनिंघम के अनुसार परिहारों का शासन महोबा के चन्देलों से पुराना माना है। साक्ष्य के रूप में बिलहारी और मऊ महोबा के तालाबों को सन्दर्भित किया गया है।"(2) प्रसिद्ध विद्वान केशवचन्द्र मिश्र का कथन है कि "चन्द्रात्रेय से नन्नुक के राज्यकाल तक का (सन 740 से 831 तक) 90 वर्ष का समय चन्देलों के उदय का काल है।"(3) धंग के खजुराहो शिलालेख के अनुसार इस वंश के प्रमुख शासक मुनि चन्द्रात्रेय नृपति भू भुजाम और नन्नुक हैं।

---

(1) ओरछा स्टेट गजेटियर वर्ष 1907 पृ० सं० 7

(2) आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट कनिंघम पृ० सं० 5–9

(3) चन्देल और उनका राजत्वकाल केशव चन्द्र मिश्र पृ० सं० 53

चन्देल राजा धंगदेव के खजुराहो अभिलेख से ज्ञात होता है कि विक्रम सम्बत 1011 के बाद ही उसका स्वंतत्र शासन इस क्षेत्र पर स्थापित हो गया। जो देश चन्देल लोगों के अधिकार में रहा, वंह धसान नदी के पूर्व में और विन्ध्याचल पर्वत के उत्तर और पश्चिम में था। यह उत्तर में यमुना नदी तक फैला था और दक्षिण में केन नदी के उद्गम स्थान तक फैला था। केन नदी इस प्रदेश के बीच में बहती है। महोबा तथा खजुराहो इसके पश्चिम में कालिंजर तथा अजयगढ़ इसके पूर्व में है। इस प्रदेश में बाँदा हमीरपुर जिले तथा चरखारी, छतरपुर, विजावर, जैतपुर अजयगढ़ और पन्ना की रियासतें थी। "चन्देल राजाओं ने अपनी उन्नति के दिनों में इस प्रान्त की सीमां पश्चिम में बेतवा नदी तक बढ़ा ली थी।"[1]

चन्देल राजाओं की अपनी परम्परायें थी। चन्देलों का आदि पुरूष नन्नुक को माना जाता है। नन्नुक के बाद शासकों में वाक्पति का नाम आता है। वाक्पति के दो प्रतापी पुत्र थे। (1) जय शक्ति (2) विजय शक्ति वाक्पति के बाद राज्य की सत्ता जय शक्ति को सौंपी गयी। जयशक्ति प्रतापी राजा था और इसी के नाम पर बुन्देलखण्ड का नाम 'जेजा–भुक्ति' पड़ा। इसने अपने राज्य को ठोस आधार प्रदान करते हुये अपनी सीमाओं का विस्तार किया। "मदनपुर के शिलालेख और अल्बरूनी के भारत संबधी यात्रा विवरण में इस तथ्य को समर्थन मिलता है। अल्बरूनी ने जेजाक भुक्ति के स्थान पर 'जेजाहुति' शब्द का प्रयोग किया है।"[2] जयशक्ति के बाद उसका भाई विजयशक्ति गद्दी पर बैठा, परन्तु इसने कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया परन्तु इसके पुत्र राहिल की ख्याति अपने पराक्रम के लिये विशेष प्रसिद्ध है। केशवचन्द्र मिश्र ने लिखा है कि "यदि चन्देल शासक राहिल के कार्यो का सिंहावलोकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि 900 ई0

---

(1) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास गोरेलाल तिवारी पृ0सं0 41–52

(2) एपिग्राफिक इंडिका भाग–1 पृ0 सं0 126

915 ई0 तक के 15 वर्ष के शासन काल में उसने सैन्यबल संघटित किया, उसे महत्वशील बनाया और अजयगढ़ की विजय करके ऐतिहासिक सैनिक केन्द्र स्थापित किया। कलचुरि से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़कर उसने प्रभावशाली कार्य किया।"[1] राहिल ने अपने शासन काल में एक 'राहिला' नामक ग्राम भी बसाया था। जिसमें एक सुन्दर मंदिर का निर्माण भी करवाया था। इस मंदिर के भग्नावशेष मात्र ही शेष है, जो महोबा से दो मील दूर स्थित है तथा अपने प्राचीन वैभव का उद्घोष कर रहा है।

राहिल के बाद उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी हर्षदेब (910–930) ने राज्य की सत्ता संभाली तथा चंदेल शक्ति को और मजबूती प्रदान की। "इसने कन्नौज के राजा क्षितिपाल (महीपाल) पर आक्रमण किया परन्तु विजय श्री का वरण न कर सका और उसकी आधीनता स्वीकार कर ली।"[2] इसके पश्चात "हर्षदेव के प्रतिहारों की गृहकलह में दखल देकर महिपाल को गद्दी पर बैठाने में सहायता की और चन्देल वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाई।"[3]

हर्षदेव के पश्चात यशोवर्मन राज्य का उत्तराधिकारी बना। खजुराहो शिलालेख में वर्णित है कि इसने अपने पराक्रम से गौड़, खस, कौशल, कश्मीर, कन्नौज, मालवा, चेदि, कुरू, गुर्जर आदि प्रदेशों को विजित करके, कालिंजर के कलचुरियों को हराकर कालिंजर पर अपना अधिकार कर लिया।

यशोवर्मन के बाद उसका पुत्र धंगदेव गद्दी पर बैठा। धंगदेव इस वंश का सबसे शक्तिशाली, प्रतापी एवं साहसी राजा था। धंगदेव ने चन्देल राज्य के स्वतंत्र शासकों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया था। पहली बार इस क्षेत्र के राजवंश ने अपनी सत्ता देश के दूर भागों तक फैलाकर बुन्देलखण्ड की यशोपताका फहराई। "धंग ने

---

(1) चंदेल और उनका राजत्व काल — केशव चन्द्र मिश्र — पृ0सं0 66

(2) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास — गोरेलाल तिवारी — पृ0सं0 82

कान्यकुब्ज के शासक को पराजित किया, ग्वालियर का किला (गोपाद्रगिरि) प्रतीहारों से जीतकर स्वयं को सर्वसत्ताधीस घोषित कर दिया तथा चन्देलो में उसने सर्वप्रथम 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। वह सौ वर्ष तक जीवित रहा।"[1] भंटिडा के राजा जयपाल पर जब गजनी के मुसलमान बादशाह सुबुक्तगीन ने आक्रमंण किया, तब उसने अपनी सहायता के लिये भारतवर्ष के कई क्षत्रिय राजाओं को सहायता के लिये बुलवाया थे। उस समय धंगदेव भी अपनी विशाल सेना को लेकर उसकी सहायता के लिये गये था। राजा धंगदेव ने आस-पास के कई राज्यों को जीतकर अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया था। इनका राज्य उत्तर में यमुना, पूर्व में काशी, पश्चिम में बेतवा, तथा दक्षिण में केन नदी के उद्गम के पास तक पहुंच गया था। इनके राज्य का विस्तार 120 मील लम्बा तथा 100 मील चौड़ा हो गया था।

"इस वंश में 831 ई0 से 1315 तक लगभग पांच सौ वर्ष शासन करने वाले निम्नलिखित प्रमुख शासक हुये। नन्नुक (830-850), वाक्पति (850-870), जयशक्ति तथा विजयशक्ति (870-890), राहिलदेव (831-850, हर्षदेव (910-930), यशोवर्मन (930-950), धंगदेव (950-1002), गण्डदेव (1003-1025), विद्याधर (1025-1035), विजयपाल (1035-1045), देववर्मन (1045-1060), कीर्तिवर्मन देव (1060-1100), संलक्षण वर्मन (1100-1110), जयवर्मन (1110-1120), पृथ्वी वर्मन (1120- 1128), मदनवर्मन (1128-1160), यशोवर्मन द्वितीय (1160-1165), परमर्दिदेव (165-1203), त्रैलोक्य वर्मन (1204-1242), वीरवर्मन (1242-1286), भोजवर्मन (1286-1290), हमीर वर्मन (1290-1315) इनके मदन वर्मा तथा उनके पौत्र परिमर्दिदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय शासक हुये।"[2]

धंग के जल समाधि लेने के पश्चात उनके पुत्र गंडदेव गद्दी पर बैठे।

---

(1) प्राचीन बुन्देलखण्ड एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, मध्यदेश दीपावली विशेषांक (1970) – डॉ0 भगवान दास गुप्त, पृ सं0 12

(2) सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' पृ0 सं0 16

ये भी अपने पिता के समान प्रतापी राजा था। यह एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी था। गंडदेव ने महमूद गजनवी के आक्रमणों को रोकने के लिये हिन्दू राजाओं के साथ संयुक्त रूप से मुकाबला करने के लिए अपने पुत्र विद्याधर को जयपाल (यह सीमांत प्रदेश का राजा था) के सहायतार्थ भेजा किन्तु कन्नौज नरेश 'राज्यपाल' की कायरता से योजना सफल न हो पायी। इस घटना से क्रुद्ध होकर विद्याधर ने कन्नौज के राजा 'राजपाल' का बध करके 'त्रिलोचनपाल' को वहां का राजा बना दिया। तत्कालीन समय में महमूद गजनवी ने ग्वालियर तथा कालिंजर पर चढ़ाई कर दी, किन्तु विजयश्री प्राप्त न कर सका और समानता की संधि हो गयी।

गंडदेव के बाद विद्याधर (1025–1040) राज्य का उत्तराधिकारी बना। जिसका बहुत दिनों तक कन्नौज के राज त्रिलोचन पाल से युद्ध हुआ। विद्याधर के पश्चात उसके पुत्र विजयपाल (वि0सं0 1097) को राज सत्ता प्राप्त हुयी। "ये शांतिप्रिय एवं निर्बल शासक था। इसने मात्र दो वर्ष राज्य कर पाया।"[1] इसके पश्चात विजयपाल के पुत्र देववर्मा ने राज्य की सत्ता संभाली। वि0 सं0 1120 में देववर्मा के पुत्र कीर्ति वर्मा ने राज्य संभाला। इसका राज्य 1060–1100 ई0 तक रहा। यह बड़ा प्रतापी राजा था। महोबा के पास कीर्तिसागर नामक तालाब इसी का बनवाया हुआ है। इसके नाम के स्वर्ण सिक्के भी प्राप्त हुये है, जिस पर 'श्रीमत् कीर्ति वर्म्मन देव' अंकित है। कीर्ति वर्मा ने कलचुरि राजा कर्णदेव को भी परास्त कर दिया था। कीर्ति वर्मा के उपरान्त उसका पुत्र हलक्षण अथवा संलक्षण गद्दी पर आसीन हुआ। इसने भी अपने नाम के स्वर्ण एवं तांबे के सिक्के चलवाये थे। इसने खजुराहो में अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया तथा संलक्षणपुर (सरकनपुर, टीकमगढ़) नामक नगर बसाया।

संलक्षण के पश्चात् जयवर्म्मन गद्दी पर बैठा (वि0 सं0 1167) इसने भी अपने नाम के सिक्के चलवाये इसके नाम के कुछ सिक्के ब्रिटिश म्यूज़ियम इंग्लैंड में आज

---

(1) बुन्देलखण्ड साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ0सं0 159

भी सुरक्षित हैं। इनके उपरान्त मदन वर्मा के राज्य का आरम्भ हुआ। इसने लगभग 1125–63 ई0 के मध्य महोबा के निकट मदन सागर नामक तालाब व दो मंदिरों का निर्माण करवाया था। इसने गुर्जर प्रान्त के राजा को युद्ध में हरा दिया था। इसने जो नगर बसाया वह मदनपुर के नाम से जाना जाता है। मदन वर्मा के बहुत सारे अभिलेख प्राप्त है। कालिंजर, खजुराहो, हरिहर आदि उनमें प्रमुख है। मदन वर्मा के पश्चात् कीर्ति वर्मा गद्दी पर बैठा। इसका राज्यकाल शायद एक ही वर्ष ही रहा हो तत्पश्चात् परमार्दिदेव या परमाल राजगद्दी पर बैठा।

परमार्दि वर्मा (परमाल देव) ने सन् 1165 ई0 में राज्य संभाला। यह बड़े पराक्रमी विचारवान व्यक्ति थे। आल्हामाहाकाव्य के अनुसार इसकी राजधानी महोबा थी। "इसने महोबा से ही शासन चलाया। इनकी सेना में आल्हा नाम का एक प्रसिद्ध योद्धा था, जो कि बनाफर वंश के दशरथ का पुत्र था। "इनके शौर्य के कारण इन्हे आल्हा की बाबन लड़ाइयों के नाम से जाना जाता था।"[1] परमार्दि देव और पृथ्वीराज चौहान का युद्ध वि0 सं0 1239 में हुआ था। इस युद्ध में परमार्दिदेव की हार हुयी और धसान नदी के पश्चिम का भाग पृथ्वीराज चौहान के अधिकार में चला गया। इसके बाद वि0 सं0 1260 में कुतुबुद्दीन ऐबक ने चन्देल राज्य पर चढ़ाई कर दी। इसने चन्देल राजा परमार्दि को कालिंजर में घेरा जहां पर परमाल के मंत्री ने ही उसे मौत के घाट उतार दिया और फिर मंदिरों को गिरवाकर मज्जिदें बनवाने का कार्य प्रारम्भ हुआ। परन्तु यह ज्यादा दिनों तक न हो सका क्योंकि परमाल के पुत्र त्रैलोक्यवर्मन ने कालिंजर के किले को कुतुबुद्दीन ऐबक के अधिकार से अपने अधिकार में ले लिया था। वि0 स0 1269 को एक शिलालेख अजयगढ़ में मिला है। वि0 स0 1290 में दिल्ली के बादशाह शमसुद्दीन अलतमश ने बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई की थी। तथा कालिंजर के किले से सवा करोड़ स्वर्ण मुद्रायें लूटकर ले गया था। ककरेड़ी ग्राम (कालिंजर के पूर्व 40 मील पर स्थित) से प्राप्त

---

(1) बुन्देलखण्ड, साहित्यिक, ऐतिहासिक,सांस्कृतिक वैभव डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ0सं0 159

वि०सं० 1232, 1252 एवं 1296 के शिलालेखों से स्पष्ट होता है कि त्रैलोक्यवर्मन ने कलचुरि वंश के अंतिम शासक राजा विजय सिंह को परास्त कर नर्मदा नदी के उत्तरीय भाग को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था।

त्रैलोक्य वर्मन के पश्चात उसका पुत्र वीरवर्मन गद्दी पर बैठा। इसने नल पुरा राजा गोविन्द, मधुबनी के राजा गोपाल तथा गोपगिरि के राजा हरिदेव से युद्ध किया। वीरवर्मन के पश्चात उसका पुत्र भोजवर्मन (वि० सं० 1309) में गद्दी पर बैठा। भोजवर्मन के पश्चात वीरवर्मन द्वितीय (वीरनृप) वि०सं० 1357 में गद्दी पर बैठा तत्पश्चात उसका पुत्र शंशाक भूप वि० सं० 1387 में गद्दी पर बैठा शंशाक भूप के उपरान्त भिलमादेव वि० स० 1403 में गद्दी पर आसीन हुआ। इस बात की पुष्टि अजयगढ़ से मिले लेख से होती है। भिलमा देव के उपरान्त परमार्दिदेव द्वितीय सिंहासन पर बैठा। इसने लगभग एक सौ वर्ष शासन किया। इनके बाद कीरत सिंह का राज्यकाल आरम्भ हुआ। इस समय तक कालिंजर चन्देलों के ही पास था।

चन्देल वंश केन्द्रीय सत्ता के रूप में उभरकर जब अस्ता चलगामी हो गये। तभी 16 वीं शती से बुन्देलखण्ड में एक नये इतिहास का प्रारम्भ हुआ, और अब यहाँ बुन्देलों का अभ्युदय हुआ। इस वंश ने अनेक संघर्षों तथा उतार–चढ़ाव का सामना करते हुये स्वतंत्रता प्राप्ति तक अपने को जीवित रखा। इस वंश के अभ्युदय की एक किवदंती इस प्रकार है "काशी के गहरवार क्षत्रियवंश के हेमकरण पारिवारिक विवाद वश निर्वासित एवं सत्ताच्युत होकर विध्यवासिनी देवी की शरण में चले गये। एक लोक श्रुति के अनुसार उन्होनें अपने रक्त की बूंदों से देवी का अभिषेक किया पांच बार रक्त की बूंदों से अभिषेक करने के कारण उनका नाम पंचम बुन्देला पड़ा। और वह बुन्देलों के आदि पुरूष के रूप में विख्यात हुये। देवी से वरदान पाकर तथा यहीं रहकर उन्होनें शक्ति संचय कर मिहौनी को अपना राजधानी बनाया तथा पंचम ने अपना खोया हुआ काशी राज्य प्राप्त कर लिया।"[1]

---

(1) महाराजा छत्रसाल बुन्देला   डॉ० भगवान दास गुप्त   पृ० सं018

बुन्देला शासक पंचमपुत्र वीरभद्र से अर्जुन पाल तक लगभग 108 वर्ष तक बुन्देलों की राजधानी मिहौनी रही। "इनका शासन काल निम्न प्रकार रहा। वीरभद्र (1071–1087 ई0), कर्णपाल (1087–1112 ई0), कन्नर शाह (1112–1130ई0), शौनक देव (1130–1152 ई0), नौनक देव (1152–1169 ई0), मोहनपति (1169–1196 ई0), अग्यभूति (1197–1215 ई0), अर्जुन पाल (1215–1231 ई0)।"(1)

इस वंश के सबसे प्रतापी राजा रूद्रप्रताप थे जिन्होनें 1531 ई0 में ओरछा की नींव डाली तथा उसे अपनी राजधानी बनाया। राजा रूद्रप्रताप की मृत्यु के पश्चात् उनके दो पुत्रों ने भारतीय चन्द्र तथा मधुकर शाह ने ओरछा पर राज्य किया। भारतीय चन्द्र ने शेरशाह सूरी को पराजित किया तथा मधुकर शाह सम्राट अकबर के आदेश के विरूद्ध कृष्णानंदी टीका को लगाकर उनके दरबार में गये तथा अकबर ने उस कृष्णानंदी टीका को मधुकरशही टीका कहने का आदेश दिया। इन्हीं राजा मधुकर शाह की महारानी कुंअर गणेश सम्बत 1631 में राम की मूर्ति अयोध्या से ओरछा ले आयी तथा उन्हें नौचौक महल में स्थापित किया। ओरछा में आज भी राम राजा ओरछा नरेश है तथा उन्हें सशस्त्र सलामी दी जाती है। कला एवं संस्कृति के प्रेमी महाराज मधुकर शाह के राज्य में आचार्य केशवदास, राज आश्रित कवि थे।

महाराज मधुकर शाह के ज्येष्ठ पुत्र रामशाह ने अपने राज–काज का संचालन सूत्र अपने छोटे भाई महाराज इन्द्रजीत सिंह को सौंप रखा था। महाराज इन्द्रजीत सिंह के शासनकाल में अखाड़ा कला, संगीत, नृत्य तथा साहित्य का अभूतपूर्व सृजन हुआ। रायप्रबीन महाराज इन्द्रजीत सिंह के शासनकाल में ही रही। रायप्रबीन आचार्य केशव की प्रिय शिष्या एवं प्रसिद्ध नृत्यांगना दरबार की प्रधान नृतकी तथा इन्द्रजीत सिंह की प्रेयसी थीं। जिसके रूप सौन्दर्य, साहित्य एवं नृत्यकला की चर्चा सम्राट अकबर के दरबार तक पहुंची। सम्राट ने ओरछा दरबार को आदेश दिया कि

---

(1) सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड   अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद'   पृ0सं0 18

रायप्रबीन को मुगल दरबार भेज दिया जाये, जिसके मना करने पर एक करोड़ रूपया अर्थदण्ड लगा दिया गया, तथा बलात् रायप्रबीन को ओरछा से आगरा ले जाया गया। सम्राट के प्रणय प्रस्ताव सामने रखने पर रायप्रबीन ने अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया तथा अपने को महाराज इन्द्रजीत सिंह की भोग्या बताकर सम्राट के योग्य न होने की बिनती इस प्रकार की।

बिनती राय प्रबीन की, सुनिये शाह सुजान।
झूठी पातर भकत हैं, वारी, वायस, स्वान।।

उपर्युक्त दोहा सुनकर सम्राट ने रायप्रबीन को वापस ओरछा भेज दिया और अर्थदण्ड भी माफ कर दिया।

वीरसिंह जूदेव ओरछा राज्य के योग्यतम शासक सिद्ध हये तथा इनके राज्य को बुन्देला साम्राज्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इन्होंने ओरछा राज्य में 52 भवनों का सिलान्यास किया तथा अनेक महलों, किलों, गढ़ियों, बाबड़ी तथा सरोवरों का निर्माण करवाया। सन् 1614 ई0 में मथुरा में 81 मन सोने का दान किया था। वीरसिंह की मृत्यु के पश्चात सम्राट जहांगीर की कृपा से उनके पुत्र जुझाार सिंह को ओरछा का शासक बनाया। जिन्होने अपने छोटे भाई कुंअर हरदौल को विषपान करने के लिये बाध्य किया था। ''चौरागढ़ में शाहजहां की सेना के व्यूह में फंसे जुझार सिंह को बुन्देले सैनिकों ने ही तलवार और कटार भौंककर मार डालना चाहा परन्तु तभी शाही सैनिक उन पर टूट पड़े और उन्होनें अधिकांश बुन्देलों को मारकर उनकी स्त्रियों को बंदी बना लिया। जुझार सिंह अपने पुत्र विक्रमाजीत के साथ जंगलों में भाग गये। वहां गौंड़ो ने उन्हें मार डाला तथा सिर काटकर शाहजहां के पास भेज दिये। अन्य विद्रोहियों के सम्मुख शाही प्रतिरोध का भयानक उदाहरण उपस्थित करने के लिये, सम्राट के आदेशानुसार ये कटे हुये सिर सिहोर नगर के दरवाजों पर टांग दिये गये। राजकुमारों को मुसलमान बना दिया गया तथा स्त्रियों को धर्मपरिवर्तन के पश्चात् मुगल काल में अपमानजनक जीवन व्यतीत

करने के लिये भेज दिया गया।''[1]

चंपतराय के पिता ओरछा के संस्थापक राजा रूद्रप्रताप के तृतीय पुत्र उदयजीत के पौत्र भागवत राय थे। राजा रूद्रप्रताप की मृत्यु के पश्चात महारनी मेहरबान अपने पुत्र उदयजीत सहित ओरछा छोड़कर कटेरा चलीं गयी। उदयजीत ने कटेरा के पास महेबा नामक एक ग्राम बसाया वहीं तीन पीढ़ियों तक साधारण अवस्था में उनके वंशज रहते रहे। चंपत राय इसी वंश के एक मात्र प्रथम वीर थे। जिन्होनें काफी प्रतिष्ठा पायी थी। जैसे ही ये युवा हुये महाराजा वीर सिंह देव की सेवा में चले आये। चंपतराय नहीं चाहते थे कि वीर सिंह देव मुगलों के आश्रित बने रहे। अकबर के विरूद्ध महाराज वीरसिंह देव के युद्ध में चंपतराय ने विशेष सहयोग दिया। जहांगीर की मृत्यु के पश्चात् वीरसिंह ने शाहजहां को कर देना बन्द करा दिया और ओरछा राज्य स्वतंत्र घोषित कर दिया। इस बात पर शाहजहां ने बकी खां को बुन्देलों को दबाने के लिये भेजा। चंपतराय ने वीर सिंह को पूर्ण सहयोग दिया और समूचा बुन्देलखण्ड प्रायः स्वतंत्र हो गया। बुन्देलखण्ड के छोटे–बड़े सभी जागीरदारों के स्वाभिमान को जागृत कर बुन्देलखण्ड मेंचंपतराय ने अजेय सामर्थ्य खड़ी कर दी। जिसके कारण बकी खां को परास्त होकर लौटना पड़ा। क्रोध से ग्रसित शाहजहां ने तीन बार बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया तथा तीनो बार मुंह की खानी पड़ी। विवश होकर शाहजहां ने वीरसिंह से संधि का प्रस्ताव रखा। ''तीन युद्ध लड़ने से बुन्देलों को काफी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी अतः संधि करना उचित जानकर संधि की गयी। चंपतराय की वीरता की भूरि–भूरि प्रशंसा की गयी। ओरछा राज्य को स्वतंत्र राज्य की मान्यता मिल गयी।'

''4 अक्टूबर 1635 ई0 को मुगलों ने ओरछा पर अधिकार करके चंदेरी के राजा देवीसिंह को वहां का राजा घोषित कर दिया। जुझार सिंह के राज्य को मुगल

---

(1) महाराज छत्रसाल बुन्देला डॉ0 भगवान दास गुप्त पृ0 सं020

साम्राज्य में मिला लिया गया तथा शासन के लिये शाही कर्मचारी नियुक्त कर दिये गये।"[1]

औरंगजेब चम्पतराय से सदैव द्वेष रखता था। चंपतराय ने बुन्देलों को पुनः संगठित करके मुगलों के विरूद्ध आवाज उठानी तथा पहाड़ी क्षेत्रों में छापामार युद्ध शैली से औरंगजेब को अत्यन्त परेशान किया किन्तु जीवन के अवसान काल में राजा इन्द्रमणि धंधेरा के संरक्षण में रहते हुये उन्हीं के विश्वास घात के शिकार हुये। धंधेर सैनिकों से घिर जाने पर उन्होंने अपनी पत्नी लालकुंअर सहित आत्महत्या कर ली। इन्हीं चंपतराय के पुत्र छत्रसाल हुये। जिन्होनें अपने बाहुबल से मुगलों का सफाया कर इस क्षेत्र में बुन्देला राज्य की पुनः स्थापना की तथा उसका विस्तार किया। इन्होनें पन्ना को अपनी राजधानी बनाया। देश में हिन्दू शक्तियों को संगठित करने के लिये उन्होनें शिवाजी से भेंट की। महाकवि भूषण ने उनके शौर्य प्रसंशा में 'छत्रसाल दशक' लिखा। "जीवन के अंतिम चरण में जब उनके सैनिक भी उदासीन हो चले थे तभी फर्रूखाबाद के नबाब बंगश खां ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया। इसी समय उन्होंने पूना के पेशवा के बाजीराव से सैन्य सहायता मांगी तथा भेजे गये पत्र में छत्रसाल ने यह मार्मिक पंक्तियां लिखी–

जो गति भई गजेन्द्र की, सोगति पहुंची आय।
बाजी जात बुन्देल की, राखौ बाजीराव।।[1]

पेशवा बाजीराव अपनी सेना सहित बुन्देलखण्ड आये तथा बुन्देलखण्ड में मुगल सत्ता को पूर्णतः विनष्ट कर दिया। महाराज छत्रसाल 81 वर्ष की अवस्था में 1731 ई0 में स्वर्गवासी हुये। छत्रसाल एवं बाजीराव के बीच हुई संधि के अनुसार महाराज छत्रसाल ने बाजीराव को पुत्रवत मानने का आश्वासन दिया था, जिसके अनुसार छत्रसाल के मरणोपरान्त बुन्देलखण्ड का एक तिहाई भाग बाजीराव को दिया गया। जिससे बुन्देखण्ड के एक बड़े भू–भाग पर मराठों का शासन स्थापित हो गया। सागर, गुरसरायं तथा जालौन इसके प्रमुख केन्द्र बने।

---

(1) बुन्देलखण्ड केसरी महाराज छत्रसाल बुन्देला डॉ0 भगवान दास गुप्ता पृ0सं02

(2) बुन्देलखण्ड दर्शन मोतीलाल त्रिपाठी 'अशांत' पृ0सं0 75

(द) बुन्देलखण्ड की सामाजिक स्थिति

राष्ट्र निर्माण की मूल इकाई समाज है। समाज का संचालन कुछ अपने विशेष नियम कानूनों के द्वारा होता है, जिनका निर्माण प्राचीन ऋषि मुनियों एवं बुद्धजीवियों द्वारा हुआ है। अतः हम ये कह सकते हैं कि यह मानव द्वारा निर्धारित व स्वीकृत वह जीवन पद्धति है, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य जीवन पर्यन्त संचालित होता है। भारतीय समाज निर्माताओं ने मानव की बौद्धिक क्षमताओं द्वारा मात्र भौतिक जीवन से ही नहीं अपितु आध्यात्मिक जीवन से भी सम्बद्ध संस्थाओं धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, अर्थव्यवस्था, वर्णव्यवस्था, आश्रम, परिवार, विवाह आदि अनेक संस्थाओं द्वारा समाज को सुदृढ़ता एवं निरंतरता प्रदान की। इसी कारणवश जिस समय विश्व के दूसरे भू–भागों पर निवास करने वाले प्राणी बर्बरता एवं असभ्यता के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय देव भूमि भारत ने सभ्यता एवं संस्कृति की नवीन एवं अखण्ड ज्योति को जागृत कर सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशमय पथ पर निरंतर आगे बढ़ाया। भारतीय सामाजिक प्राणियों का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। और इसके लिये अनेक कठिन मार्ग भी प्रशस्त है। इन कठिन मार्गों की मुक्ति के लिये भारतीय मानीषियों ने धर्म, अर्थ काम में सामंजस्य स्थापित कर आध्यात्मिकता का संबल लेकर मोक्ष के सुगम मार्ग को प्रशस्त किया। इस सुसंस्कृत सभ्य समाज के समानान्तर अनादि काल से लोक–समाज और जीवन अपनी लोक संस्कृति, लोक धर्म, लोक–विश्वास, लोक परम्परा आदि को अक्षुण्ण बनाये हुये निरतर प्रवाहमान होता रहा है।

बुन्देलखण्ड में भी अनादि काल से चली आ रही इन लोक विश्वास, लोक परम्पराओं का अनुपालन होता चला आ रहा है। प्राचीन वैदिक युगीन वर्णाश्रम व्यवस्था का बुन्देली समाज सदैव समर्थक रहा है। अपने निर्माण काल से ही इसमें ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को अपने–अपने स्तर के अनुसार कर्म सम्मान और भरण–पोषण

के साधन उपलब्ध रहे हैं। परन्तु मध्यकाल के उत्तरार्द्ध तक हिन्दू वर्णाश्रम में ब्राह्मणों की व्यवस्था प्रायः अपदस्थ हो गयी। ''समस्त ब्राह्मणों के दो वर्ग सारे देश में हो गये– उत्तर भारतीय ब्राह्मणों के लिये पंच गौड़ और दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों के निमित्त पंच द्रविड़ वर्ग।''(1) उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की विभाजक रेखा नर्मदा नदी को माना गया है। उत्तर भारतीय ब्राह्मणों पंच गौड़ के लिये सारस्वत, गोर, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल तथा दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों पंच द्रविड़ के लिये महाराष्ट्रीय, तैलंग, तमिल, कर्नाटक, तथा गूजर क्षेत्र सीमित था।

उत्तर भारतीय ब्राह्मणों की अनेक उपजातियां भी मानी जाती है, तथा इनमें परस्पर श्रेष्ठता की प्रतिर्स्पधा वर्तमान काल तक चली आ रही है। ''बुन्देलखण्ड में अधिकतर जिझौतिया ब्राह्मण ही मुख्य रहे है।''(2) ब्राह्मणों की उपजातियों का नामकरण उनके मूल स्थान के आधार पर हुआ। बुन्देलखण्ड में इनकी उपजातियां अहिवासी, जिझौतिया, कनौजिया, खेड़ावाल, मैथली, मालवी, नागर, नार्मदेव, सनाढ्य, सरबरिया और उत्कल पायी जाती है। यहां लगभग एक शताब्दी पूर्व कान्यकुब्ज, सनाढ्य सरयूपारीण और अन्य ब्राह्मण वर्ग नहीं थे। प्रारम्भ से ही ब्राह्मणों का कार्य शिक्षा–दीक्षा देना तथा ज्ञान का प्रसार करना रहा है। आज भी शिक्षा दीक्षा के क्षेत्र में ये किसी से पीछे नहीं है। धार्मिक पूजा–पाठ की सम्पन्नता इन्हीं के कर कमलो से सम्पूर्ण होती है। क्योंकि यह इनका जन्म सिद्ध अधिकार है। व्रत, त्यौहार, उपवास आदि धार्मिक पर्वो पर इनकी उपस्थिति अनिवार्य होती है। धार्मिक कथाओं का पठन–पाठन ये ही सरलतापूर्ण एवं मनोरंजक ढंग से करते है, जिससे श्रोतागण मुग्ध होकर उनका मनन करते है और शिक्षा ग्रहण करते है। धार्मिक कार्यो के साथ–2 ये राजाओं के सलाहाकार, पथ प्रर्दशक एवं मंत्री के रूप में भी कार्य करते थे। जिससे इनको जागीरे व सनदें प्राप्त हुआ करती थी।

---

(1) दि ट्राब्ज एण्ड कास्ट्रस ऑफ दी सेंटल प्राविन्सेज इंडिया, भाग–2, आर0वी0रसेल पृ0सं0 357

(2) अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, तृतीय संस्करण वी0ए0स्मिथ पृ0सं0 376

ब्राह्मणों को इनकी श्रेष्ठता के कारण समाज में "विप्र, द्विज, बामन, श्रोत्रिय, महाराज आदि विशेषण इनके साथ ज़ोड़े जाते थे।"[1]

बुन्देलखण्डी समाज में ब्राह्मणों के अच्छे गुणों की जहां एक ओर प्रशंसा होती है वहीं पर इनके सम्बन्ध में जनश्रुतियां भी प्रचलित है–

"विप्र परौसी अजय धन, बिटियन को दरबार।
ऐते पै धन न घटै पीपर राखौ दुआर।।"[2]

समाज के अन्य प्राणियों का जीवन सरलता एवं सत्यता की ओर अग्रसर करने का श्रेय ब्राह्मण जाति को ही है। इसे कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता। अन्य जातियां आज भी इनकी ऋणी है और रहेगीं। वे हमारी श्रद्धा के पात्र है।

बुन्देलखण्ड में ब्राह्मणों के बाद दूसरी जाति क्षत्रिय है। यहां पर इनकी 36 प्रकार की उपजातियां मिलतीं हैं। रसैल का कथन है कि "उनकी कुलीनता के संदर्भ में यह बताना कठिन है कि शुद्ध रक्त के कौन है? बुन्देलखण्ड में अधिकांशतः परमार, बिसेन, बुन्देला, बनाफर, चन्देल, भदौरिया, कछवाहा, तोमर, चौहान, धाकड़, हैहयवंशी, कलचुरि आदि ही प्रमुखता से पाये जाते है। इन्ही के साथ दांगी, लोधी, कुरमी भी अपने को ठाकुर कहते है। ये मध्य युग तक कृषि करने वाले माने गये।"[3] इन सभी की उपजातियां भी है। कुर्मियों में उसरेंटे, चन्दनास, सिंगोरे, लोधी, आदि उपजातियां है। क्षत्रियों का वर्ग शासक वर्ग है, इसलिये ये अपने भूमि पर मर–मिटने वाले बहादुर होते है। इस जाति का गौरव आज भी मान्य है। राजपूत या ठाकुर अपने गांव में उसी ठप्पे के साथ रहते है। इनसे टकराने के पूर्व कई बार सोचना पड़ता है। क्षत्रिय अपनी बात के भी पक्के होते है। वीरता के अंश को इन्होनें आज भी नहीं त्यागा है। बुन्देली समाज में क्षत्रियों की बहादुरी के सम्बन्ध

---

(1) बुन्देली समाज और संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ0 सं0 75

(2) बुन्देली कहावत कोश — कृष्णानंद गुप्त — पृ0 सं0 247

(3) दि ट्राइब्ज एण्ड कास्टस ऑफ दी सेन्ट्रल प्राविन्सेज इंडिया भाग–4 आर0वी0 रसेल पृ0सं0 55

में भी जनश्रुतियां प्रचलित है–

(1) "बारा बरस लौ कूकर जिये सौरा लौं जियें सियार।

बरस अठारा क्षत्रिय जिये आगै जीवे को धिक्कार।।

(2) चार बांस चौबीस गज अंगुल अष्ट प्रमाण।

ता ऊपर सुल्तान है मत चूकौ चहुआन।।"[1]

क्षत्रियों के बाद बुन्देलखण्ड की तीसरी जाति वैश्य है। इस जाति में हम व्यापारियों को रखते है। विशेषकर वणिक वृत्ति वाले ही इस कोटि में आते है। वैश्यों के अनेक नाम बनिया, वणि, महाजन, सेठ, साहूकार आदि समाज में प्रचलित है। ये वास्तव में सुदूर अतीत में अनाज, घी, और अन्य मनिहारी का सामान बेचने वाले थे। बुन्देलखण्ड में वैश्य दो प्रकार के है जैन एवं हिन्दू। जैन वैश्य बनिया ओसवाल, सैतवाल, परवार, गोलापुरब, चरनापार, बघेलवाल, समैया आदि उपजातियों में विभाजित है। हिन्दू बनिया अग्रवाल, असाटी, गहोई, केसरवानी, माहेश्वरी, नेमा आदि उपनामों से जाने जाते है। जैन बनिया दिगम्बर या श्वेताम्बर होते है और इष्टदेव जैन तीर्थकर पारसनाथ, बाहुबली आदि को मानते है। हिन्दू वैश्य पूर्ण रूप से वैष्णव होते है।

ऋग्वेद के अनुसार इन तीनों वर्णो के बाद परम पुरूष के चरणों से शूद्रों का प्रादर्भाव हुआ। "बाह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मूलतः आर्यो के साथ जुड़े हैं और शेष जातियों की अनार्य उत्पत्ति मानी जाती है।"[2] आधुनिक युग में इन सभी जातियों का महत्व कम हो गया हैं अनेक निचले स्तर के कहे जाने वाले सरकारी नौकरियों में उच्च पदों पर कार्यरत है और वर्ण व्यवस्था नगरों में प्रायः नाममात्र ही रह गयी है।

बुन्देलखण्ड का समाज विभक्त होने के बाद भी अनेकता में एकता का एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहां पर सामाजिक समरसत्ता धार्मिक भावनाओं

---

(1) बुन्देली समाज तथा संस्कृति — बलभद्र तिवारी — पृ०सं० 77

(2) इंडियन कास्ट — डॉ० विल्सन — पृ०सं० 88

के अनुरूप है। सामाजिक क्रिया–कलाप पूर्ण रूपेण धर्म के अनुसार सम्पादित होते है। यहां के प्रत्येक घर में जब बच्चा पैदा होता है, तब वह राम, कृष्ण का ही रूप होता है। बालिकायें साक्षात् भगवती का रूप मानी जाती हैं। प्रत्येक घर के कोने में कंचन कलश ही धराये जाते है तथा बच्चे के माता पिता दशरथ– कौसल्या या नन्द–यशोदा की भांति होते है। संस्कार गीतों में भगवान राम, कृष्ण के ही क्रिया कलापों का वर्णन होता है। जिसके कारण समाज में आपसी सद्भाव समरसता देखने को मिलती है।

बुन्देलखण्ड में जातीय एकता के साथ ही साथ हिन्दू मुस्लिम एकता का रूप दिखाई देता है। यहां पर निवास करने वाले मुसलमान, हिन्दू त्यौहारों, मेलों और उत्सवों में तन, मन और धन के साथ सक्रिय भाग लेते हैं, तथा हिन्दू भी इनके त्यौहारों में तन्मयता के साथ हिस्सा लेते है। परिणाम स्वरूप ये एक दूसरे के गले मिलते हैं और परस्पर भाईचारे का सम्बन्ध रखते हैं। बुन्देलखण्ड में कहीं कहीं पर मुसलमान और हिन्दुओं के पारिवारिक सम्बन्ध है। "विवाह के अवसर पर एक दूसरे के यहां गुरू भाई और गुरू बहिन की तरह रिश्ते का पालन करते है।"[1] उन्हें वही आदर दिया जाता है जो सगे सम्बन्धियों को दिया जाता है। समाज में लोग एक दूसरे से भाई चारे का सम्बन्ध रखते हैं तथा बच्चों को प्यार बूढ़ों को सम्मान एवं कन्याओं को पूजनीय भाव से देखा जाता है। यद्यपि भौतिक संसाधनों एवं पाश्चात्य् संस्कृति के अन्धानुकरण के द्वारा इनमें भी विरोधाभाष देखने को मिलता है, किन्तु इन सबके बाबजूद यहां के समाज में भारतीय संस्कृति झलकती है। जो कि शाश्वत सत्य है।

बुन्देलखण्ड विकासशील प्रदेश है लेकिन यह अभी भी पिछड़े क्षेत्रों में गिना जाता है। यहां की अधिकांश आबादी गांवों में निवास करती है। बुन्देलखण्ड का मुख्य आर्थिक स्रोत कृषि है। यहां पर कृषि के अलावा वन उत्पादन, मत्स्य पालन, पर्यटन एवं उद्योग आदि भी आर्थिक स्रोत के साधन है। नगरें की अधिकाशं जनता व्यापार और सरकारी एंव गैर सरकारी नौकरियों से अपना जीवन यापन करते है।

---

(1) बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन डॉ0 मोती लाल चौरसिया पृ0सं0322

बुन्देलखण्ड में निवास करने वाली जनता का प्रमुख आर्थिक स्रोत कृषि है। "बुन्देलखण्ड बहुत उपजाऊ प्रदेश नहीं है फिर भी यहां दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं का अभाव नहीं है।"[1] यहां पर समुचित सिंचाई व्यवस्था से दो या तीन फसलें एक साल में उगाई जाती है। जिसमें रवि की फसल प्रमुख है तथा खरीब की फसल द्वितीय स्थान पर है। पहले यहां गेहूँ, चना मुख्य उत्पाद थे, परन्तु कैश क्रोप के रूप में मटर, सोयाबीन, मसूर आदि का उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया है। इनके साथ ही साथ ज्वार, बाजरा, अरहर, मूंग, उड़द और मसूर का भी उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होता है। अन्न एवं दालो के अलावा यहां पर मौसमी सब्जियां भी उगाई जाती है। ग्रीष्म ऋतु में तरोई , भिण्डी, पालक, करेला, लौकी, कद्दू, तथा जाड़ों में टमाटर, गोभी, गाजर का उत्पादन किया जाता है। बुन्देलखण्ड में महुआ अधिक होता है, जिसकी बजह से गांवों में महुए की शराब बनायी जाती है। यहां पर फल तथा मसालों का भी उत्पादन किया जा सकता है। "बुन्देलखण्ड पान उत्पादन के लिये प्राचीन काल से विख्यात है। देशावरी पान का लगभग 5–6 करोड़ रूपये का निर्यात होता है, सरकारी आंकड़ा दो करोड़ रूपये का है। ललितपुर तथा छतरपुर (म0प्र0) जनपद भी पान के उत्पादन के लिये ख्याति प्राप्त है।[2] बुन्देलखण्ड के महोबा क्षेत्र का पान विश्व प्रसिद्ध है, यहां पर पान प्रयोग और प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित है। यहां पर उचित संरक्षण से पान निर्यात से बृद्धि की संभावना अधिक है।

बुन्देलखण्ड में कृषि के साथ–2 कुछ लोग पशुओं के द्वारा अपना जीवकोपार्जन करते हैं। पहले यहां पर पशुपालन सहायक पेशे के रूप में लोग अपनाते थे, परन्तु अब यह एक अच्छे व्यवसाय के रूप में है। बुन्देलखण्ड में विभिन्न स्थानों पर गाये तथा भैसे पालकर लोग दूध डेरी बनाये हुये है, तथा दूध, दही, घी क्रीम, पनीर आदि

---

(1) बुन्देलखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास ए0क्यू0 मदनी पृ0 सं0 87–88

(2) बुन्देलखण्ड साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ0सं022

का व्यापार कर रहे है। गाय, भैसों के अलावा मुर्गी के अण्डों तथा मुर्गो के लिये यहां पर पोल्ट्री फार्म भी है। इसके साथ ही साथ कोंच क्षेत्र की कसाई मण्डी पहले बहुत चर्चित मण्डी थी। यहां से बड़े जानवरों का मांस प्रतिदिन एक–दो ट्रक भरकर बाहर की मण्डियों में भेजा जाता था। कुछ निर्धन व्यक्ति बकरियां पालकर उसके दूध तथा मेमनों का विक्रय करके अपनी आजीविका चलाते है।

व्यवसाय की दृष्टि से बुन्देलखण्ड के तालाबों और नदियों में मत्स्य पालन का व्यवसाय उन्नति कर रहा है। यहां पर यह व्यवसाय अपनी पूर्ण क्षमता से बहुत नीचे है, यदि इसमें कुछ सुधार कर दिया जायेतो इनका पालन बढ़ाया जा सकता है। तालाबों में पुराव एवं कम वर्षा के कारण संचय क्षमता कम हो रही है। आठ फुट से कम गहरा पानी मत्स्य पालन के प्रतिकूल है। इस व्यापार के लिये तीव्रगामी यातायात एवं शीत पैकिंग अत्यन्त आवश्यक है। यहां के नदियों एवं तालाबों में रोहू, नयनी, सिलंध, करौची गुन्च, सौर, झिंगुरा, चिलवा, अनवरी, बहुआ, सिरीवास आदि मछलियां पायी जाती है। माहसीर बहते पानी की मछली है, जो यहां बहुतायत पायी जाती है। बुन्देलखण्ड में 20 लाख हेक्टेअर जल में से मात्र 8 लाख हेक्टेअर पानी का उपयोग किया जाता है। यदि इसका समुचित विकास किया जाये तो इस व्यापार से कई गुना आय प्राप्त की जा सकती है।

बुन्देलखण्ड में बड़े उद्योग नगण्य हैं, और मध्यम एवं लघु उद्योग अत्यन्त अल्प संख्या में है। यद्यपि इनकी सभांवना अधिक है। लघु उद्योगों में रानीपुर टेरीकाट (वस्त्र उद्योग) एवं बीड़ी उद्योग आदि प्रमुख है। बड़े उद्योगो में डायमण्ड सीमेन्ट वर्क्स नरसिंह गढ़ (दमोह) भारत हैवी इलैक्ट्रीकल्स झांसी, एवं वैद्यनाथ औषधि निर्माण आदि उल्लेखनीय है।

बुन्देलखण्ड में आज के समय में औषधीय खेती का प्रचलन बढ़ा है। जो हमारे क्षेत्र के लिए अत्यन्त लाभकारी है। किसान को खेती के साथ–साथ पशुपालन

बागवानी, औषधीय खेती आदि भी करनी आवश्यक हो गई है क्योंकि यहॉ पर सिंचाई के साधनों की कमी के कारण हम पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर रहते है और कम वर्षा होने पर नुकसान की स्थिति में आं जाते है अतः इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। कहना न होगा कि आज हम जागरूक हो रहे है या परिस्थितियां हमें रास्ता दिखाती जा रही है।

वर्तमान युग में भारत सहित पूरे विश्व में पर्यटन उद्योग का विकास तेजी से हो रहा है। इस उद्योग का विकास भारत में हर मौसम में देखने को मिल जाता है, क्योंकि यहां प्रत्येक मौसम में हजारों की संख्या में विदेशी पर्यटक घूमने आते है। भारत का हृदय स्थल बुन्देलखण्ड राज्य भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर है। यहां के अनेक स्थानों में मंदिर, किले, महल तथा स्थापत्य कला की अनूठी छबियां है, जो पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, और उनके मन में बस जाती है। ''बुन्देलखण्ड ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्मारकों का कोषागार है।''[1] यहां पर स्थित कंदरिया महादेव का मंदिर, लक्ष्मण मंदिर, वामन मंदिर (खजुराहो), ओरछा का रामराजा मंदिर, झांसी का किला, कांलिजर का किला आदि विश्व प्रसिद्ध है। छतरपुर के पास चारो ओर से वन से घिरा भीमकुण्ड अत्यन्त दर्शनीय है। पन्ना के जुगल किशोर का मंदिर, बृहस्पति तथा भैरवकुण्ड देखने लायक है। केन नदी के स्नेह तथा पाण्डव प्रपात पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित करते है। चित्रकूट भगवान राम की कर्मस्थली रही है, ओरछा तपोभूमि है। कालिंजर में स्थित स्वर्गवाह कुण्ड एवं भैरव की मूर्तियां ख्याति प्राप्त है। यहां के जैन सम्प्रदाय के मंदिर एवं तीर्थ सोनागिरि, द्रोणागिरि, देवगढ़ आदि राष्ट्रीय तीर्थ है। मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला में खजुराहो को अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक निधि का स्थान प्राप्त है। यहां पर प्रत्येक वर्ष लाखों की संख्या में देशी तथा विदेशी पर्यटक आते है। जिससे बुन्देलखण्ड सहित भारत की भी आर्थिक उन्नति होती है।

---

(1) बुन्देलखण्ड : साहितियक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव

परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है। यह एक ऐसी स्वीकृत जीवन पद्धति है, जिसके द्वारा मनुष्य जीवन जीवन पर्यन्त संचालित होता है। भारतीय समाज की जीवन शैली न्यूनाधिक एक जैसी है। किन्तु उसमें आंचलिकता और लोकत्व की झलक उसे विशिष्टता प्रदान करती है। बुन्देलखण्ड का लोक जीवन धर्माधारित है। मानव जीवन के प्रत्येक आचार–व्यवहार में धर्म इस तरह जुड़ा हुआ है, जैसे एक सिक्के के दो पहलू। यही धार्मिकता की भावना बुन्देलखण्ड के लोकरंजन में दिखलायी पड़ती है। मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ लोकरंजन या मनोरंजन के साधनों में भी उत्तरोत्तर विकास होता गया। सुख–दुख, हंसना–रोना नैसर्गिक क्रियायें है इनका प्राक्ट्य मनुष्य के उत्स के साथ–साथ हुआ। मनुष्य जब असभ्य था, तब भी सामूहिक नृत्य के उदाहरण मिलते है। वैदिक एवं पुराणकालीन शास्त्रों में भी मनोरंजन के बिभिन्न साधन देखने को मिलते है, जैसे शिकार, वनबिहार, जलबिहार, नृत्य, गायन, द्यूत विद्या आदि। बुन्देलखण्ड के लोक जीवन में भी मनोरंजन के विभिन्न विधायें हैं, जिन्हें विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न कोटियों में वर्गीकृत किया है। जिसमें पुरूषों, स्त्रियों बालक, बालिकाओं के मनोरंजन के साधन विभिन्न प्रकार से है।

पुरूषों के गीतों में देवी देवताओं के पूजा विषयक, ऋतु विषयक श्रृंगार गीत, श्रमदान गीत जातियों के गीत, शौर्य एवं प्रशस्त गीत गाये जाते हैं। स्त्रियों के गीतों में मुख्यतः संस्कार गीत, पूजा विषयक गीत, श्रृंगार गीत श्रमदान गीत आदि गाये जाते हैं। बालक, बालिकाओं के क्रीड़ात्मक एवं उपासना गीत गाते हैं।

लोकगीतों के अलावा लोकनृत्य मनोरंजन के सशक्त माध्यम है। लोकनृत्य उल्लास पूर्ण अभिव्यक्ति के प्रबल क्षण है। हर्षातिरेक में समूह में जब उमंग की हूक उठती है, तो पैर स्वतः ही लय में थिरकने लगते है। " सृष्टि के आरम्भ में भावहीन मानव ने भाव प्रकाश के लिये शरीर के हाव–भाव का ही आश्रय लिया होगा। भाव प्रकाशन की सार्थक मुद्राओं को ही भाषा ने नृत्य कहा हैं, निरर्थक मुद्राओं का नाम 'नृत' है, अतएव

नृत्य की प्राचीनता निर्विवाद है।''[1]

इन लोक नृत्यों को डॉ0 वीणा श्रीवास्तव ने अपने ग्रंथ ''बुन्देलखण्डी लोकगीतों में सांगीतिक तत्व'' में निम्न कोटियों में बांटा है–

(1) सांस्कारिक लोकनृत्य

(2) ऋतु एवं त्यौहारीय लोकनृत्य

(3) जातीय लोकनृत्य

(4) विविध लोकनृत्य

इन नृत्यों के अन्तर्गत चंगेर–नृत्य, बाबा नृत्य (जुगिया), बहू उतारने का नृत्य, सैरा, दिवारी, राई, ढिमरयाई, कांडरा, राबला, जबारा, नौरता, एवं बधावा नृत्य आते है। लोक नाट्य में स्वांग, नौंटकी, रामलीला तथा रास लीला आदि भी मनोरंजन के लोक प्रिय माध्यम है।

उपर्युक्त मनोरंजन समाज के दर्पण हैं। इनके द्वारा समाज की प्रत्येक स्थिति, क्रियाकलाप, हर्ष–उत्साह, आदि प्रतिबिम्बित होते हैं। ये कलाएं मनुष्य को, मानव जीवन को एक प्रवाह प्रदान करती है तथा सामाजिक चेतना प्रदान करती है।

---

(1) बुन्देलखण्डी लोकगीतों में सांगीकि तत्व — डॉ0 वीणा श्रीवास्तव — पृ0सं0 201

(य) बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक स्थिति

सम्पूर्ण जगत में भारत वर्ष ही मात्र ऐसा देश है, जहां संस्कृति का सर्वप्रथम जन्म एवं विकास हुआ। भारत अपनी संस्कृति के कारण ही विश्व–प्रसिद्ध है आध्यात्मिक, धार्मिक, दर्शन, कला, साहित्य, अर्थ व्यवस्था, वर्णव्यवस्था, आश्रम, परिवार, विवाह आदि अनेक संस्थाओं द्वारा भारतीय समाज निर्माताओं ने मानव की बौद्धिक क्षमताओं का विकास कर समाज को स्थिरता एवं गति प्रदान की है। विश्व के अधिकाशं क्षेत्रों में जब मानव जंगली था तथा असभ्यता के तिमिर से आच्छादित पशुवत जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय भारत की सभ्यता एवं संस्कृति अपनी अखण्ड ज्योति को जागृत कर प्रकाशमय जीवन पथ पर आगे बढ़ते हुये अपने भौतिक जीवन को सुख एवं सम्पन्नता प्रदान कर रही थी।

किसी समाज देश काल की विकास यात्रा का अध्ययन करने के लिये सबसे उत्तम दर्पण संस्कृति ही है। संस्कृति ही उसका महत्वपूर्ण पक्ष होती है। इस सम्पूर्ण जगत में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसमें विचार बोध है, जो कर्म करने के लिये स्वतंत्र है। अतः वह भले बुरे कर्मो का भी विचार करता है, और विचार करतें हुये ही सभी कर्मो को करता है। इन कर्म चेष्टाओं को पाप–पुण्य, सुकर्म–कुकर्म, भला–बुरा इत्यादि कहा जाता है। जिनके आधार पर उसकी संस्कृति को भी विशेषण मिल जाता है।

संस्कृति को मानव जीवन के विचारों का शुद्धिकरण मानते है इस अनुसार ''संस्कृति है मानव जीवन के आधार विचार का संशुद्धीकरण अथवा परिमार्जन। वह है मानव समाज की सजी–संवरी हुयी अन्तः स्थिति, वह है मानव समाज की परिमार्जित गति और प्रवृत्ति पुंज''[1] अतः संस्कृति का अर्थ है जीवन जीने की पद्धति। मानव जीवन तथा समाज की विविध पूर्ण आचार–विचार की विधियों की संचालिका शक्ति होने के कारण

(1) भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान–डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र पृ0सं0 9

संस्कृति के इस विराट स्वरूप को किसी सर्वसम्मत परिभाषा में आबद्ध करना एक दुष्कर कार्य है। संस्कृति गतिशील है, परिवर्तनशील है, प्रभावमयी है। वातावरण वैयक्तिक परिस्थियां, भौतिक साधन, व्यक्ति और समाज की सांस्कृतिक चेतना को स्वरूप देते है।

सांस्कृतिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड अधिक सम्पन्न है। अपनी सुदृढ़ एवं परिवर्तनशील सांस्कृतिक विरासत के लिये बुन्देलखण्ड प्रसिद्ध है। यदि इसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो बुन्देलखण्ड की संस्कृति को समझने में विलम्ब नही होगा। "मूर्तियों से यहां की संस्कृति टपकती है लोकगीतों से सजती संवरती है तथा लोक कलाओं में रचती बसती है। संस्कृति के आधार भूत यहां के रहन सहन, रीति–रिवाज, तीज–त्यौहार, ब्रत–पूजन और शिल्पकला, स्थापत्य कला तथा ललित कला आदि का दिव्यदर्शन आपको इस आधुनिक युग में बुन्देलखण्ड के प्रत्येक ग्राम में अवलोकन करने को मिलेगा।"[1] प्राचीन संस्कृति का रूप इन मूर्तियों में दर्पण के समान दिखाई पड़ता है। "आदिकाल से ही बुन्देलखण्ड की जनता में सांस्कृतिक अन्तः प्रवृत्ति व्याप्त रही है।

सामान्यतः सम्पूर्ण भारत वर्ष की लोक संस्कृति एक जैसी ही है। किन्तु आंचलिकता का प्रभाव उसे विशिष्ट बना देती है। संस्कृति के निर्धारण में भौगौलिक स्थिति एवं वातावरण विशेष प्रभाव डालता है। बुन्देलखण्ड की संस्कृति के अन्तर्गत आने वाले रहन–सहन, खान–पान, वस्त्र आभूषणों पर भी इसकी झलक दिखलायी पड़ती है। बुन्देलखण्ड की भूमि पथरीली है तथा नदियों, नालों पहाड़ों की अधिकता है। इसी कारण बुन्देलखण्ड का पहनावा, भोजन आदि उपलब्ध साधनों से निर्मित है।

"शरीर माध्यम, खलु धर्म साधनम्"

जितने भी प्रकार के धर्म है, उनकी साधना का माध्यम शरीर है। अतः शरीर को सुरक्षित रखना प्रथम कर्तव्य है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ दिमाग का निर्माण होता है। हमारी संस्कृति अति प्राचीन है, संस्कृति की आधार शिला 'संस्कार' है। बच्चों

(1) बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य . रामचरण हयारण मित्र पृ0सं0 15 (निवेदन से)

में प्रारम्भ से ही ऐसे संस्कार डाल दिये जाते है जिसमें मनुष्य स्वस्थ रहते हुये अपने व्यक्तित्व एवं समाज विकास हेतु अग्रसरित होता है।

बुन्देलखण्ड की जलवायु गर्म है। भौगौलिक स्थितियां पहाड़ी है। यहां के खन–पान, रहन–सहन, पहनने, ओढ़ने से गर्मी का बचाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यहां की भाषा में युग्म शब्द अधिक मिलते है। जिनका सीधा सम्बन्ध दिनचर्या से होता है। यथा स्नान–ध्यान। अतः सर्वप्रथम स्नान करके भगवान का ध्यान किया जाता है। भोजन–भजन, गर्म जलवायु होने के कारण भोजन करके तुरन्त परिश्रम नहीं करना चाहिये अतः भोजन के बाद भजन करना चाहिये परन्तु भोजन के बाद शयन नहीं, क्योंकि 'दिन सोना जहर हैं।

यहां की प्रकृति ने जलवायु की दृष्टि से स्थानीय उत्पाद भी निर्धारित किये है। पूरे बुन्देलखण्ड में महुआ तथा बेर के वृक्ष सर्वाधिक है। अतः यहां के भोजन में महुआ तथा बेर सम्मलित है। यहां की भूमि पथरीली होने के कारण एवं सिंचाई के अल्प साधन होने के कारण महुआ भोजन का मुख्य आधार था। बुन्देलखण्ड का विस्तृत भू–भाग गौंडवाना (जिसे लोक भाषा में गुडानों कहा जाता है) में महुआ, बेर, गुलगुच (पका हुआ महुए का फल) पूरे गौंडवाने में पाया जाता है। यह तीनों ही गौंडवाने की पहचान बन गये हैं। महुआ यहां की मेवा है, तो बेर नाश्ता है तथा गुलगुच मिष्ठान है।

बुन्देलखण्ड में व्यजनों की भरभार है। त्यौहारों, पर्वो पर अनेकानेक प्रकार के व्यंजन बनाने की परम्परा है। विशेष त्यौहार पर विशेष प्रकार के व्यंजन बनाये जाते है किन्तु सामान्य दिनों में मोटा अनाज या चोकर युक्त अनाज से बने व्यंजन अधिक पंसद किये जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिये सर्वोत्तम है। यहां नाश्तें में ठुवरी, महेरी खाई जाती है, भोजन में रोटी, दाल, चटनी तथा हरी सब्जियां (कमलनाल, घुइयां के पत्ते, सैजना की फलियां, जिमीकन्द, सैजना की जड़े, पालक, बथुआ, मैथी आदि स्थानीय सब्जियां हैं) अधिक उपयोग में लायीं जाती है। मूंग, ज्वार, रौंसा आदि के विशिष्ट पकवान

बनाये जाते है। इसके अतिरिक्त मीडां, थोपा, हिंघोरा, विढ़ई, ठुबरी, पूड़ी, कचौड़ी, पुआ, गुलगुला, कढ़ी, चावल, हलवा (मूंग की दाल का, उड़द की दाल का, सूजी का, आटा का) लड्डू, एहरषे, जलेबी एवं खोये की मिठाइयां इत्यादि प्रयोग में लाये जाते है।

"विष्णुदास कृत 'महाभारत' में बुन्देलखण्ड को ज्यौंनार के वर्णन से सिद्ध है, कि उसमें छः पेय तथा अठारह भक्ष्य होते थे। ये इस प्रकार है– बरा, बरी, लपसी, कसार, सेव, लड्डू, मोतीचूर के लड्डू, घेवर (घी, मैदा, चीनी से बनी मिठाई) बाबर, लुचई, खाजे, फैनी, गूझा, दहोरी, बेढंई (उर्द की दाल और चावल आटे से बना पकवान) मांडे, रोटी, कढ़ी, पकौड़ी, समोसा, पेरा (रंगों और कलाकारी से सज्जित गूझा) पछयावर (दही छांछ का मधुर पेय जो भोजन के अन्त में लिया जाता था), सिखरिनं (श्रीखण्ड या उससे मिलता–झुलता चीनी, गरी केसर आदि के सम्मिश्रण से बना दही का पेय) मठा, बासोंधी (खोवा, दूध आदि से मिश्रित करके सुगन्धित दूध का पेय, अनेक प्रकार का दूध आम तथा इमली का पना।"[1]

सामान्य दिनों में गकरियां यहां का लोकप्रिय भोजन है। गकरियां (छोटी–मोटी पनपथू, हाथ से बनने वाली रोटी जो बिना चकला, बेलन सहायता से बनती है) हाथ एवं पानी की सहायता से बनायी जाती है और अंगारे पर सेंकी जाती है। इसको घी, गुड़ के साथ खाया जाता है।

बुन्देलखण्ड में अनेक प्रकार के व्यंजनों के साथ ही साथ कुछ विशेष प्रकार के पेय पदार्थो का प्रचलन है। ये पेय पदार्थ यहां के अंचलों में ग्रीष्म ऋतु में अधिकतर प्रयोग में आते है। यहां पर स्वागत शर्बत से किया जाता है। काली मिर्च पीसकर शर्बत में मिलाकर पिलाया जाता है। इसका दूसरा प्रकार इलायची का शर्बत होता है, इसमें काली मिर्च के स्थान पर इलायची का प्रयोग किया जाता है। तीसरे प्रकार के शर्बत में

---

(1) विराट पर्व (महाभारत) *विष्णुदास* *छन्द 30–50*

काली मिर्च तथा इलायची दोनों को ही मिलाया जाता है। आम का शर्बत (पना) ये यहां का सबसे प्रचलित पेय पदार्थ है। इसको मीठा तथा नमकीन दोनों प्रकार से बनाकर पिया जाता है। आम की तरह इमली का शर्बत मीठा तथा नमकीन पिया जाता है।

सत्तू बुन्देलखण्ड का सर्वाधिक प्रिय भोज्य एवं पेय पदार्थ है। सत्तू को जल में घोलकर मीठा तथा नमकीन दोनों प्रकार से प्रयोग किया जाता है। छांछ (मठ्ठा) को भी मीठा तथा नमकीन पिया जाता है। दही की लस्सी में चीनी या गुड़ मिलाकर पीने का प्रचलन है। दूध तो कई प्रकार से प्रयोग में लाया जाता है। दूध तो बुन्देलखण्ड में जल तथा वायु की तरह अनिवार्य है। प्रत्येक घर में दूध का होना अति आवश्यक है। चाहे धनी, मध्यम, गरीब किसी भी वर्ग का हो दूध वाले पशु अवश्य ही प्रत्येक घर में होने चाहिये। दूध औषधीय गुणों से परिपूर्ण है तथा यहां के भोजन का मुख्य सहायक है। यहां प्रातः नाश्ते में और रात्रिकालीन भोजन के बाद दूध पीना आवश्यक है। प्रातः कालीन नाश्ते में मनुष्य की शारीरिक स्थिति के अनुसार ठंडा, गर्म या कच्चा दूध पीने का चलन है। रात्रि में भोजन के साथ या भोजन के बाद गर्म या ठंडा दूध पिया जाता है। दूध के अन्य उपयोग के लिये दूध को हल्की आंच में गर्म करके गाढ़ा कर लिया जाता है। इसमें मेवा–गरी, चिरौंजी, किसमिस, छुहारे इत्याति काटकर डाल दिये जाते है। वह दूध दोपहर के खाने में ढुवरी, महेरी, दलिया इत्यादि में साथ में प्रयोग में लाया जाता है।

बुन्देलखण्ड में एक कहावत प्रचलित है, कि भोजन अपने मन के अनुसार तथा कपड़े परिजनों, मित्रों की पसंद के पहनने चाहिये। वस्त्र तथा पहनने के ढंग को देख कर यह सहज ही अनुमान लग जाता है, कि दोनों के ऊपर प्रकृति तथा जलवायु का स्पष्ट प्रभाव है।

पथरीले बुन्देली प्रदेश में वृक्ष तथा कंटीली झाड़ियां भी बहुतायत है। अतः अधोवस्त्र सामान्य से ऊँचे पहिनने की परिपाटी है। "ग्रीष्म जलवायु होने के कारण यहां पर ढीले वस्त्र पहनने का रिवाज है।

स्त्री पुरूष क्रमशः लहंगा, धोती, ही पहिनते है। स्त्रियां अधोवस्त्र में लंहगा या बांड पहिनती है, जो कि कुछ ऊँचे होते है। जिससे पैरों के आभूषण पैजना या लच्छा, बांके दिखती रहे। इसके दो कारण होते है– एक तो यहां के पत्थर बेतरतीब होते है, दूसरा कंटीली झाड़ियां तथा पैरों के आभूषण में लहंगा विधता रहता है, जिससे वह फट जाता है। श्रम करते समय लहगें में कांच लगाने का भी रिवाज है। ताकिं लंहगा चलने में, बैठने–उठने में बार–बार सम्भालना न पड़ें।

"पुरूष वर्ग भी धोती ऊँची ही बांधता है जो घुटनों के समीप (पिंडरी) से होती है। धोती पहिनने का ढंग ऐसा होता है, कि धोती चिपकी रहे, फूली न रहे तथा शरीर के साथ कसी रहे, ताकि कार्य करते समय धोती किसी भी प्रकार का व्यवधान न उत्पन्न करें।[1]

यहां पर वस्त्रों के साथ–2 उनसे जुड़े हुये विश्वास अभी भी प्रचलित हैं। जैसे सप्ताह में नये वस्त्र केवल तीन दिन (बुधवार, गुरूवार, शुक्रवार) को ही पहिनने चाहिये तथा नये वस्त्रों को पहनने से पूर्व उन्हें भगवान या तुलसी वृक्ष या कन्या को समर्पित करना चाहिये। यदि नये वस्त्र पहनते समय उपयुक्त तीनों न उपलब्ध हो तो भूमि को ही सर्वप्रथम वस्त्र समर्पित कर देना चाहिये। इसी के साथ वस्त्र सम्बन्धी वर्जनायें भी हैं यथा–

"इतवार फटै, सोमवार जरै, मंगल हानि होय"[2]

वस्त्रों के साथ आभूषण पहनने से व्यक्ति की शोभा और भी बढ़ जाती है। आभूषणों का चलन कब से है यह कहना बहुत कठिन है। मनुष्य जब जंगली एवं असभ्य कहा जाता था, तब भी उनमें आभूषणों का चलन पाया जाता था।

---

(1) बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास –नर्मदा प्रसाद गुप्त– प्रारम्भिक पृष्ठ

(2) बुन्देली लोक जीवन में प्रचलित वस्त्र– दैनिक कर्मयुग प्रकाश दिनांक–3–4–2002, पृ० 3

आज भी आदिवासियों में पंखों, कौड़ियों के आभूषण पहनने का रिवाज हैं रामायण काल में "नाह जानामि केयूरे– नाह जानामि कुण्डले" से आभूषणों का प्रचलन स्पष्ट होता है। तुलसीदास जी की रामचरित मानस में पुष्पाभूषण से श्रंगार का प्रमाण मिलता है यथा–

एक बार चुन कुसुम सुहाये। निजकर भूषण राम बनाये।।

सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर।।

आभूषणों का निर्माण स्वास्थ्य एवं लोक पहचान को दृष्टि में रखते हुये किया गया होगा। ज्योतिष विद्या विदों ने ग्रह–नक्षत्रों के प्रभाव से बचने के लिये एवं धातुओं को धारण करने की दृष्टि से आभूषणों में प्रयोग किया है। जैसी कि मान्यता है– कि ऐड़ी के ऊपर कड़े या पैंजना पहनने से पैर के निचले हिस्सें घुटनों, पिण्डलियों में दर्द नहीं होता है। मांग भरने एवं बिछिया पहने हुये स्त्री को देखते ही सहज अनुमान लग जाता है, कि यह स्त्री विवाहिता है।

स्त्रियों में आभूषणों के प्रति अनुराग अत्यधिक होता है। आभूषणों का प्रभाव तन तथा मन दोनों पर पड़ता है। मान्यता है कि कान के ऊपरी भाग में बैकुण्ठी पहिनने से चंचलता समाप्त हो जाती है तथा मृत्यु के उपरान्त बैकुण्ठ की प्राप्ति होती है। आभूषण आदि काल से लेकर वर्तमान काल तक अपना स्वरूप बदलते रहे हैं तथा उनकी निर्माण में प्रयोग होने वाली धातुओं में भी परिवर्तन होता रहा है, किन्तु इनका प्रचलन हर युग में रहा है।

"शास्त्रीय दृष्टि से बारह आभूषण माने गये है, जो बारह अंगों को आभूषित करते है। आंगिक सौन्दर्य के साधन होने के कारण कवियों ने उनका वर्णन नख या शिख, के अन्तर्गत किया है। बलभद्र मिश्र केशव, पजनेश, खुमान, प्रताप आदि इस क्षेत्र के रीति कवियों ने ख्यात नख शिख ग्रन्थों की रचना की है और इस परम्परा

---

(1) बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास– नर्मदा प्रसाद गुप्त– पृ0 238

में बुन्देलखण्ड का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इसी तरह और लोक कवियों ने भी आंगिक सौन्दर्य और आभूषणों के वर्णन में काफी रूचि दिखायी है। फागकारों, सैरकारों और फड़ काव्य के कवियों ने आभूषणों पर रचनायें रची है, जो या तो वर्णन प्रधान है या प्रभावात्मक है।"

बुन्देलखण्ड में प्रचलित आभूषणों का वर्णन यहां के लोकगीतों एवं लोक रचनाओं में मिलता है। पैंजना, पैंजनियां, करधौनी, गजरा, चुरियां, बाजूबन्द, बजुल्ला छायेंछला, मुंदरी, गुलुबन्द, कण्ठा, विचौली, छुटिया, पोत का गजरा, कठला, कर्णफूल, लोलक, पुंगरियां दुर, बेंदा, बेंदी, बूंदा, दवनी, टिकुली इत्यादि। "छंदयाऊ फाग केपुरस्कर्ता 'भुजबल' ने एक फाग में अनेक गहनों के नाम दिये हैं, जो क्रमबद्ध रूप से यहां प्रस्तुत है– सिर में सीसफल,वेणी में झालिया, माथे में बेंदी, दावनी, टीका कानों में कर्णफूल, सांकर, लोलक, ढ़ारे, बारी, खुटिया, नाक में बेसर पुंगरिया, गले में सरमाल, चन्द्रमाल, सुतिया, पंचलड़ी, बिचौली, चौली लल्हारी, हाथ की अंगुलियों में मुंदरी, छला, छापें बाजू में बरा, बजुल्ला बगबां कौंचा में लकना दौरी, चूरा, हरैयां, बगलियां, चूड़ी, नौघरई (नवग्रही) पदेला, कटि में करधनी, गुच्छा, पैर में कड़ा, छला, बांकें घुमरी, पाजेब, पांवपोश, पैंजनियां, पैजना पैर की अंगुलियों में बिछिया, गेंदे, चुटकीं, गुटियां और अनवट।"[1]

युग परिवर्तन के साथ–साथ खान–पान, पहनने–ओढ़ने तथा आभूषणों के प्रकारों में भी परिवर्तन होता चला आ रहा है। आर्थिक परेशानियों के आभूषणों का इतिहास इस प्रकार रहा है।

(1) पैर की अंगुलियों के आभूषण – अनौटा, चुटकी, छला, कटीला, गुच्छी, गैंदे, जोडुआ, पातें, बांके बिछिया।

(2) पैर के आभूषण– अनोखा, कड़ा, गूजरी या गुजरिया, घुंघरू, चुल्ला, चूरा

---

(1) बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास– नर्मदा प्रसाद गुप्त– पृ0सं0 245

छागल, जेहर, झाँझे, तोड़ा, पायजेब, पायल, पैंजना, बाके, महावर, लच्छा, साकें।

(3) कमर के आभूषण– करधनी, बिछुआ, आधी करधनी।

(4) हाथ की अंगुलियों के आभूषण– छला, छाप, फिरमा, मुंदरी।

(5) कौंचा के आभूषण– कंगन, कड़ा, पौचियां, गजरा, गुंजे, चन्दौली, चूड़ियां, चूरा, छल्ला, दस्तबन्द, दौरी, पछेला, पटेला, बेलचूड़ी, रूनझुनिया, लाखें, हथफूल, हरैय्यां।

(6) बाजू के आभूषण – अनंतिया, खग्गा, टड़ियां, बखौरियां, बजुल्ला, बरा, बांके, बाजूबंद, भुजबन्द।

(7) गले के आभूषण– कण्ठमाल, कण्ठी, कठला, ठुसी, गुलुबन्द, चंद्रहार, ढुलनियां, तिंदाना, पाटिया, बिचौली, मंगलसूत्र, मालायें, लल्हरी, सुतिया, हमेल, हार, सीतारामी इत्यादि।

(8) कान के आभूषण– ऐरण, कर्णफूल, कनौंती, कुण्डल, बाला, झुमका, झुमकी, बैकुण्ठी, वारि, लाला, लोलक इत्यादि।

(9) नाक के आभूषण– कील, सुलनी, दुरनाथ, नथुनियां, नकवेसर, पुंगरिया, बारी, बुल्लाक इत्यादि।

(10) माथे के आभूषण– टिकली, टीका, तिलक, दावनी, बेंदा, बूंदा।

(11) सिर के आभूषण– केकर पान, झूमर, सीसफूल, मांगफूल, चूड़ामणि, रेखड़ी

(12) चोटी के आभूषण– चुटिया, झाबिया, बेनीफूल।

पुरूषों के आभूषण–छला, फिरमा, मुंदरी, कड़ा, चूरा, बाजूबंद, भुजबन्द, गले में कण्ठा, गजरा, जंजीर, तौक, तबिजिया, बनमाल, मोतीमाल, हार इत्यादि।

बालकों के आभूषण– बालको के हाथों में चूड़ा, कड़ा पहुंचिया, अनंतिया कमर में

करधनी, गले में कठुला, तबिंजिया, ढुलनियां, बघनखा, नजर बटटू, कानों में बारी, लोंग इत्यादि पहनते है।

आभूषण पहनने के अलावा वस्त्रों को गहनों से अलंकृत किये जाने का चलन है। चुनरी के किनारों, घूंघट में, आंचल, चोली, अंगिया में भी घुंघरू, गोटा, जरी इत्यादि से अलंकृत किया जाता है। इन सभी वस्त्र आभूषणों खान–पान, रीति–रिवाजों में बुन्देलखण्ड की समृद्ध संस्कृति परिलक्षित होती है।

बुन्देलखण्ड की संस्कृति का ज्ञान हमें जहां एक ओर यहां के सामाजिक क्रिया–कलापों, रहन–सहन, वस्त्र–आभूषण, खान–पान एवं रीति–रिवाजों से प्राप्त होता है। वहीं दूसरी दूसरी ओर संस्कृति का ज्ञान हमें यहां के साहित्य से मिलता है। क्योंकि मानवों के विचारों का प्रतिबिम्ब ही साहित्य है। साहित्य का उद्‌गम मानव हृदयतंत्री से झंकृत करूणा तथा उल्लास से धनीभूत भावनाओं से है। जीवन के सुख–दुःख, आशा–निराशा, हास्य–रूदन, संयोग–वियोग आदि विपत्तियों से ग्रसित होकर मानव हृदय संवेदनशील हो जाता है। वही संवेदना हृदय तंतुओं से जागृत होकर, कागज–कलम के द्वारा जब वर्णमाला में अंकित होती है, तब साहित्य की संज्ञा से अविहित होती है।

साहित्य मूलतः मानवों के द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है। समय समय पर महात्मा पुरूष तथा प्रतिभा सम्पन्न विद्वान पुरूष जो विचार करते है, अनुभव करते है। तथा समझते है, इन्ही लिपिबद्ध विचारों के समूह को साहित्य का नाम दिया जाता है।

जिस प्रकार वीर प्रसविनी बुन्देलखण्ड की वसुन्धरा को वीरता के क्षेत्र में अभय वरदान प्राप्त है, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी बुन्देलखण्ड को वरदान प्राप्त है। इसी बुन्देली भूमि ने अपनी कोख से अनेकों साहित्यकारों गद्य एवं पद्य रचयिताओं को जन्म दिया है। जिन्होने अपने अटूट परिश्रम एवं साधना के बल पर बुन्देलखण्ड को सदैव गौरवान्वित किया है। वैदिक काल से लेकर वर्तमान युग तक बुन्देलखण्ड के साहित्यकारों ने ख्याति अर्जित की है। ''साहित्य के प्रमुख दो रूप है– (1) गद्य (2) पद्य। हिन्दी

साहित्य का प्रारम्भ पद्य से हुआ है।''[1]

बुन्देलखण्ड भारत वर्ष का महत्वपूर्ण भू–भाग हैं इस राज्य की समय–समय पर सीमायें बदलती रही हैं। ''बुन्देली, इस भू भाग की सबसे अधिक व्यवहार में आने वाली बोली है। विगत 700 वर्षो में इसमें पर्याप्त साहित्य सृजन हुआ । फलतः यह भाषा का स्वरूप भी ग्रहण कर चुकी है।''[2] बुन्देली काव्य में हमें अनेकों जातिओं, कलाओं और साधनाओं का परिचय मिलता है। इसीलिये यहां काव्य का आधार यहां की नदियां, पर्वत, और यहां के वीरों को बनाया गया है।

बुन्देलखण्डी काव्य में रस, छन्द, अलंकार, व्याकरण एवं शास्त्रों का सर्वोत्तम समन्वय देखने को मिलता है। बुन्देलखण्ड में प्रारम्भ से ही काव्य रचनाओं का पठन–पठान होता रहा है। प्रारम्भ में यहां बुन्देली भाषा में ही काव्यों की एवं महाकाव्यों की रचना हुयी। 'आल्हा महाकाव्य' बुन्देली संस्कृति एवं बोली का प्रथम महाकाव्य है, इसके रचयिता 'जगनिक' है। बुन्देलखण्ड के श्रेष्ठतम् कवियों में जगनिक के बाद 'विष्णुदास' का नाम आता है। इन्होनें 14वीं शती में दो कथा काव्यों 'रामायण' एवं 'महाभारत' कथा लिखी। इन दोनों कथाओं का आधार श्री राम कथा और श्री कृष्ण कथा है।

बुन्देलखण्ड के कवियों के साथ–साथ यहां के राजा भी काव्य प्रेमी थे। इन्होनें भी बुन्देली काव्य धारा में महत्वपूर्ण योगदान किया। ''मधुकर शाह 'टिकैत' बुन्देलखण्ड की रक्षा में ही प्रसिद्ध हुये। कवि, देशभक्त और धर्म प्रवर के रूप में उनका स्मरण अब तक किया जाता है। पंडित हरिराम व्यास मधुकर शाह को दीक्षा देने वाले गुरू, एक संगीतज्ञ, भक्त और साधक के रूप में विख्यात हुये। उनकी रचनाओं में रागमाला, व्यासवाणी, राम पंचाध्यायी आदि में बुन्देली और बृज तथा रीति भक्ति का

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन– मोतीलाल त्रिपाठी 'अशान्त' [illegible] पृ0सं0 322

(2) बुन्देलखण्ड : साहिहित्यिक ऐतिहासिक सांस्कृतिक वैभव डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ0स0 39

अदभुत समन्वय मिलता है।"[1] केशवदास वीरसिंह देव के राजकवि थे। इनकी समस्त रचनाओं का आधार संस्कृत ग्रंथ है, परन्तु कवि प्रिया, रसिक प्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित, रतन बावनी, रसचन्द्रिका में इनकी व्यापक काव्यभाषा प्रयोगशीलता एवं बुन्देली संस्कृति, रीति–रिवाजों भाषागत प्रयोगों से केशव बुन्देली के प्रमुख कवि हैं। आचार्य कवि केशवदास रीतिकाल के श्रेष्ठतम् कवि माने जाते हैं इनके बाद श्रृंगार की धारा में पद्माकर (सं0 18180), खुमान कवि (सं0 1823), ठाकुर (सं0 1823), दामोदर देव (सं0 1840), मंचित (सं0 1836), नवलसिंह कायस्थ (सं0 1850), प्रतापसिंह (सं0 1850) पजनेस पन्ना (सं0 1872), भट्ट (सं0 1875), सरदार कवि (सं0 1880), भंगवत कवि (सं0 1890), ईसुरी (सं0 1881), गंगाधर व्यास (सं0 1899), , ख्यालीराम (सं0 1906) आदि कवियों ने अपनी कविताओं एवं रचनाओं में बुन्देली श्रृंगार माधुरी को अनेक प्रकार से संबर्द्धित किया।

बुन्देलखण्ड की प्राचीन रचनायें पद्यात्मक शैली की है। परन्तु आधुनिक युग को गद्य काव्य ही कहते हैं। इस काल की विशेषता गद्य ही है। आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता 'भारतेन्दु को कहा जाता है। बुन्देलखण्ड के साहित्यकारों ने विगत शताब्दी में समस्त राष्ट्र सहित विश्व को नवचेतना देने में प्रशंसनीय योगदान दिया है। द्विवेदी युग के कुछ लेखकों ने हिन्दी गद्य साहित्य में नव–जीवन का संचार किया। कृष्ण बलदेव शर्मा, और सियाराम शरण गुप्त आदि लेखकों ने अपनी उपन्यास, कहानी, नाटक एवं आलोचना के क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न की।

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा का जन्म बुन्देलखण्ड क्षेत्र के झांसी जनपद की मऊरानीपुर तहसील में सन् 1889 में हुआ था। इनकी प्रमुख कृतियां निम्न है– (1) उपन्यास– कुण्डली चक्र, हृदय की हिलोर, मृगनयनी, सोती आग

---

(1) बुन्देलखण्ड : साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव– डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ0 सं0 4

विराटा की पद्मिनी, झांसी की रानी आदि। (2) कहानी– दबे पांव, कलाकार कादण्ड, मेंढकी का व्याह, अंगूठी का दान (3) नाटक– झांसी की रानी, हंस मयूर, राखी की लाज, नीलकण्ठ, बीरबल, बॉस की फांस, मंगलसूत्र आदि वर्मा की प्रसिद्ध कृतियां हैं।

बुन्देलखण्ड में वृंदावन लाल वर्मा जी के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य जगत के अनेकानेक साहित्यकार हुये हैं। जिनमें जबलपुर के सेठ गोविन्द दास का नाम हिन्दी के प्रमुख नाट्यकारों में में लिया जाता है। वहीं सागर क्षेत्र के डॉ0 रामकुमार वर्मा प्रसिद्ध नाटककार, आलोचक एवं प्रतिभा सम्पन्न कवि हुये। झांसी क्षेत्र के डॉ0 रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य के प्रगतिशील एवं प्रसिद्ध आलोचक है। साहित्य महारथी पं0 वनारसी दास चतुर्वेदी जी का हिन्दी गद्य के विकास में अग्रणी योगदान है। कालपी के अलौकिक विभूत सम्पन्न कृष्ण बलदेव जी वर्मा, श्री वियोगिं हरि एव राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियारामशरण जी गुप्त, जबलपुर की ऊषादेवी मित्रा हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी लेखिका हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार, निबन्धकार, समीक्षाकार उपन्यासकार तथा अनुवादक, आलोचक श्री कृष्णानन्द गुप्त बुन्देलखण्ड की ही देन है। झांसी के प्रसिद्ध लेखक सम्पादक रघुनाथ विनायक धुलेकर, बरूआ सागर के पं. रामसहाय शर्मा, आचार्य श्री कृष्णपद भट्टाचार्य, श्री रामचरण मित्र हयारण, गौरीशंकर द्विवेदी, श्री सीताराम गोस्वामी डॉ0 द्वारका प्रसाद मित्तल, सुप्रसिद्ध कथाकार श्री शिवसहाय चतुर्वेदी अजयगढ़ पन्ना के बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री अम्बिका प्रसाद 'दिव्य' श्री निर्मल सिंह 'दर्दी' पं0 कृष्ण किशोर द्विवेदी हिन्दी के प्रतिभा सम्पन्न दुलीचन्द अग्निहोत्री आदि बुन्देलखण्ड की माटी से उत्पन्न रत्न हैं। हिन्दी गद्य साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी गद्य साहित्य का भविष्य अत्यधिक उज्जवल है। बुन्देलखण्ड की रत्नगर्भा, बसुन्धरा अपनी कुक्षि से निरंतर कवियों एवं साहित्यकारों को जन्म दे रही है। जिन्होनें अपनी साहित्य साधना से हिन्दी साहित्य के कलेवर को अधिक विकसित कर नयी ऊँचाईयों तक पहुंचाया है।

संस्कृति और कला (वास्तु या स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, कला साहित्य आदि) का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव में ये कलाऐं ही कालान्तर में सभ्यता के सोपान पर रगड़ती, घिसती, संवरती और परिमार्जित होती हुई विकसित होती हैं। इसके साथ एक निश्चित रूप धारण कर संस्कार मण्डित हो, अभिजात कला की संज्ञा से विभूषित होने के कारण संस्कृति की परिचायक भी होती हैं। एम0 एस0 असगर अली के अनुसार–" सामाजिक जातीय चित्रवृत्तियां कला में स्थान पाती हैं। और कला की उन्नति से उस जाति या देश–विदेश की सांस्कृतिक उन्नति का पता लगता है।"[1]

बुन्देलखण्ड का मूर्ति शिल्प के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान है। यहांपर समय–समय पर मूर्ति कला सम्बन्धी अनेकानेक अभिनव प्रयोग किये गये है। मध्यकालीन प्रतिमाओं का तो यहां अकूत भण्डार है। गुप्त युगीन मूर्तियों प्राचीनतम् रामकथा के सुन्दर दृश्य तथा शिवगणों की सुन्दर मूर्तियां नचना कुठार (पन्ना) से प्राप्त हुई है। "विष्णु, नृवाराह तथा पशुवाराह की गुप्तयुगीन मूर्तियां ऐरण से मिली हैं। देवगढ़ से शेषाशायी विष्णु, नर–नारायण, गजेन्द्र मोक्ष तथा राम और रामायण के गुप्त युगीन सुंदर अंकन मिले हैं। इन मूर्तियों में संतुलित शरीर सौष्ठव, सुन्दर केश विन्यास, झीनें वस्त्र सूक्ष्म अलंकरण तथा गतिशीलता के दर्शन होते है।"[2] बुन्देलखण्ड का मूर्तिकला के क्षेत्र में पूरे विश्व में अद्वितीय स्थान है। यहां से प्राप्त मूर्तियां यहां की संस्कृति की परिचायक है, और आज इसी कारण बुन्देलखण्ड को अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक धरोहर का दर्जा प्राप्त है।

बुन्देलखण्ड का मूर्तिकला के साथ– स्थापत्य कला के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान है। "बुन्देलखण्ड के क्षितिज पर स्थापत्य सम्बन्धी गतिविधियां ईसवी सन के पूर्व ही प्रारम्भ हो गयी थी।"[3] कालिंजर तथा एरण दुर्ग का निर्माण ईसा की प्रथम शती के

---

(1) मूर्तिकला का विकास – एम0एस0 असगर अली पृ0सं0 6

(2) बुन्देलखण्ड –साहित्यिक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव – डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव पृ सं0 145

(3) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व डॉ0 एस0 डी0 त्रिवेदी पृसं0 30

संभवतः प्रारम्भ हुआ। तद्उपरान्त गुप्त शासकों द्वारा बनवाये गये मंदिर आज भी मौजूद है। पन्ना जिले के नचना ग्राम में स्थित पार्वती मंदिर का निर्माण पांचवी शती का है। देवगढ़ का दशावतार मंदिर भगवान विष्णु को समर्पित है। खजुराहो का कंदरिया महादेव का मंदिर, लक्ष्मण मंदिर, वामन मंदिर, जगदम्बा मंदिर आदि विश्व प्रसिद्ध हैं। बुन्देलखण्ड में सभी देवताओं के मंदिरों की अपेक्षा भगवान विष्णु के मंदिर बहुतायत में है। मंदिरों के अतिरिक्त यहां के दुर्ग भी स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। "भारतीय दुर्गों में कालिंजर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है।"[1] इस दुर्ग का वर्णन महाभारत में भी हुआ है। अजयगढ़ का दुर्ग, गढ़कुण्डार का किला अपनी भव्यता के लिये प्रसिद्ध है। महोबा, देवगढ़ मड़फा, मनियागढ़, चन्देरी तथा कालपी में चन्देल कालीन दुर्ग थे, परन्तु अब ये पूरी तरह ध्वस्त हो गये हैं। ये दुर्ग बुन्देलखण्ड के स्वर्णिम इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते है।

बुन्देलखण्ड में जहां मूर्तिकला, स्थापत्य कला जैसी अनेक ललित विधायों का बहुमुखी विकास हुआ, चित्रकला के क्षेत्र में भी यहां का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार बुन्देलखण्ड कला तीर्थो का विशेष गढ़ रहा है, जहां चित्रकला के विशेषज्ञों ने विभिन्न रूपों में चित्रों का निर्माण कर बुन्देलखण्ड को गौरवान्वित किया है।"[2] बुन्देलखण्ड के प्रमुख कला केन्द्र झांसी के पास बाघाट ग्राम में 6000 वर्ष पाचीन चित्रकला के उदाहरण मिले है। बुन्देलखण्ड के चित्र मुख्यतः दो आधारभूत माध्यमों पर चित्रित है— भित्ति तथा कागज। भित्ति चित्र बुन्देलखण्ड के अनेक स्थान मिले है। मदनपुर के मन्दिर, ओरछा के चर्तुभुज मंदिर, राजमहल, रायप्रवीन महल लक्ष्मी मंदिर, दतिया की छतरी, पन्ना के मंदिर, बिजना का शिव मंदिर, बानपुर का किला अमरागढ़ का किला आदि स्थानों में भित्ति चित्र मिले हैं। बुन्देलखण्ड से प्राप्त चित्रकला के

---

(1) गजेटियर नार्थ बेस्ट प्रान्सेज, बाल्यूम एक पृ०सं० 446—447

(2) बुन्देलखण्ड दर्शन मोती लाल त्रिपाठी 'अशांत' पृ०सं० 268

अनुपम नमूने यहां की सांस्कृतिक धरोहर है।

बुन्देलखण्ड में अन्य कला क्षेत्रों के साथ–साथ संगीत के क्षेत्र में भी बुन्देलखण्ड का अतुलनीय योगदान रहा है। संगीत से मानव का अविछिन्न सम्बन्ध है। संगीत अन्य कलाओं से हटकर एक ऐसी नैसर्गिक ललित कला है, बुन्देलखण्ड में संगीत परम्परा अत्यधिक पुरातन है। यहां की संगीत परम्परा की प्राचीनता का अनुमान यहां के विश्व विश्रुत संगीतज्ञ, राग–रागिनियों के सर्जक तानसेन तथा बैजूबावरा की जन्म तथा साधना स्थली होने से सहज़ ही पता लग जाता है। जन–जन के हृदय में बसी अमर कृति रामचरित मानस के रचनाकार गोस्वामी तुलसीदास जी इस धरा धाम की मुकुट मणि हैं। यह भूमि संगीतज्ञो तथा रचनाकारों की जन्म एवं साधना स्थली होने के गौरव से अभिमण्डित है। इन्होनें सदैव ही बुन्देलखण्ड को अपनी कठिन तपस्या के द्वारा गौरवान्वित किया है।

उपर्युक्त कलायें समाज एवं संस्कृति का दर्पण एवं परिचायिका है। इन सभी कलाओं के द्वारा प्रत्येक सामाजिक क्रिया –कलाप, यहां के निवासियों का उत्साह एवं लगन आदि को दर्शाती हैं ये कलायें ही मानव के जीवन को प्रांजल पथ एवं निरंतन गतिशीलता प्रदान करती है, तथा समाज एवं देश को नवचेतना प्रदान करती हैं।

द्वितीय अध्याय

(अ) वैष्णव सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि

भारत वर्ष एक धर्म प्रधान देश है। यहां की संस्कृति में धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म इस देश तथा संस्कृति की आत्मा है। अति प्राचीन काल से ही धर्म को एक पवित्र प्रेरक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यहां का धर्म अजर अमर है एवं अति प्राचीन है, क्योंकि अन्य धर्मों का निर्माण किसी महापुरूष या विशेष व्यक्ति द्वारा किया गया है, परन्तु हमारे धर्म का अभ्युदय स्वयं सृष्टि के रचयिता भगवान के द्वारा हुआ है। इसी धर्म के विकास एवं रक्षा करने के लिये भारत में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ। धर्म का मूल उद्देश्य है कि मानव अपने समस्त कर्मो को करते हुए तन, मन धन से भगवान के श्री चरणों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करे और अन्त में इस संसार रूपी भवसागर को पार करके मोक्ष (आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना, पुनर्जन्म न होना) प्राप्त करे। इसी ज्ञान को समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचाने का विशेष कार्य सम्प्रदायों ने किया। सम्प्रदायों के मुख्य प्रणेताओं ने अपने ज्ञान के आधार पर जन–सामान्य का मार्ग दर्शन किया।

हमारे भारतीय समाज में समस्त प्राणियों के जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये अनेक भारतीय संतों एवं दार्शनिकों ने निम्न साधन बताये है– कर्म, ज्ञान एवं भक्ति।

प्राचीन भारतीय वेद कर्म प्रधान हैं। वैदिक काल में आर्यजनों को यज्ञों के कर्मकाण्डों में श्रद्धा थी। ये देवी–देवताओं को प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रकार के यज्ञ किया करते थे तथा उन यज्ञों में पशुओं की बलि भी देते थे। उत्तर वैदिक काल में धर्म और दर्शन के क्षेत्र में परिवर्तन हुआ। इस समय यज्ञों के विधि–विधान तथा क्रियायें इतनी

जटिल हो गयी थी कि सामान्य जन उन्हें समझने में असमर्थ थे। इस काल में "राजसूय, बाजपेय तथा अश्वमेघ जैसे विशाल यज्ञों का अनुष्ठान किया जाने लगा। यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण पुराहितों को बहुत अधिक गायें, सोना, वस्त्र, भूमि आदि दान में दी जाने लगी थी।"[1] अतः धीरे–धीरे सामान्य जनता की रूचि इस प्रकार के जटिल यज्ञों से हटने लगी। कालान्तर में भरत में एक नवीन विचारधारा को मान्यता प्राप्त होने लगी। इस विचार धारा के अन्तर्गत यज्ञों के स्थान पर स्वाध्याय और सदाचार को अधिक महत्व दिया गया। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान करना आवश्यक बताया गया।

वैदिक साहित्य के अंतिम भाग उपनिषद हैं। उपनिषदों में ज्ञान को महत्व दिया गया है। उपनिषदों में हमें वैदिक चिन्तन का चरमोत्कर्ष मिलता है। इनका मुख्य प्रतिपाद्य 'ब्रह्मज्ञान' तथा 'आत्मज्ञान' है। उपनिषद का अर्थ है "शिष्य का निष्ठापूर्वक गुरू के समीप परमतत्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के निमिन्त बैठना जो समस्त संशयों को शिथिल करता है तथा अज्ञान का विनाश करता है।"[2] उपनिषद की व्याख्या शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थ 'श्री भाष्य' में भी की है। शंकराचार्य के अनुसार 'उपनिषद' का अर्थ 'ब्रह्मविद्या' है।

उपनिषदों में यज्ञों तथा उनके कर्मकाण्डों की उपयोगिता को नकारते हुये स्पष्ट शब्दों में इसकी निन्दा की है। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है– "यज्ञ टूटी नौकाओं के सृदश तथा उनके कर्म तुच्छ हैं। जो मूढ़ इन्हें श्रेयकर मानकर इनका अनुसरण करतें हैं वे बारम्बार जरा–मरण के चक्र में फंसते जाते हैं।"[3] उपनिषदों के अनुसार आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान ही मोक्ष है। जिसमें भव बंधन से छुटकारा मिल जाता है। आत्मज्ञान को

---

(1) प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति *के०सी० श्रीवास्तव* *पृ०सं० 83*

(2) Education in Ancient India *Altekar* *P-1-2*

(3) मुण्डकोपनिषद श्लोक 1, 2, 3

'अपरविद्या' कहा गया है, और यही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

वेद एवं उपनिषदों का ज्ञान साधारण जनता के परे था। मध्यकाल में अनेक धार्मिक विचारकों एवं सुधारकों ने भारत के सामाजिक जीवन में सुधार लाने के उद्‌देश्य से भक्ति को साधन बनाकर एक आन्दोलन प्रारम्भ किया जो 'भक्ति आन्दोलन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'यद्यपि यह आन्दोलन भारतीय समाज के लिये नया नहीं था तथापि इस्लाम की उपस्थिति से इसे वेग प्राप्त हुआ तथा यह आन्दोलन 'जन–आन्दोलन' में परिवर्तित हो गया। भारतीय जन जीवन में इसने एक नवीन शक्ति तथा गीतिशीलता का संचार किया।"[1]

जब किसी राष्ट्र में कोई विशेष परिवर्तन होता है तो उस परिवर्तन के पीछे उसकी सामाजिक परिस्थितियों का विशेष योगदान होता है। तत्कालीन भारतीय समाज की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। इस समय समाज में जातीय व्यवस्था बहुत जटिल बन चुकी थी। तथाकथित निम्न जातियों के व्यक्तियों पर भीषण अत्याचार किये जा रहे थे। इस कारण वश अनेक अछूत जातियां इस्लाम धर्म की शरण में जाने लगी थी। इस स्थिति से भयभीत होकर हिन्दू समाज सुधारकों द्वारा जाति के बन्धनों को ढीला किया गया तथा अछूतों के लिये भक्ति मार्ग को मुक्ति का आधार बतलाया। वहीं दूसरी ओर भारत पर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अनेकानेक बार आक्रमण किये और हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त करने लगे। इस कारण मंदिरों एवं मूर्तियों के अभाव में हिन्दू जनता को भक्ति मार्ग का ही सहारा लेना पड़ा।

भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ दक्षिण भारत में हुआ था। इस पुनरभ्युदय के काल में कुमारिल और शंकराचार्य ने अपना विशेष योगदान दिया ये लोग स्मार्त (परम्परावादी) थे। इन्होंने किसी एक विशेष सम्प्रदाय को नहीं बल्कि पुरातन ब्राह्मण धर्म को, जैसा कि वह अनेकानेक सदियों में विकसित हुआ था, पुनः उसी धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिये परिश्रम किया।

---

(1) प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति — के0सी0 श्रीवास्तव — पृ0सं0 833

कुमारिल के अनुसार व्यक्ति को युवावस्था में धार्मिक कर्मकाण्ड तथा वृद्धावस्था में दार्शनिक चिन्तन करना चाहिये। कुमारिल ने अपनी रचनाओं के माध्यम से बौद्धों पर कड़ा प्रहार किया। "परम्परागत कथाओं में कहा जाता है। कि अपनी अनेक यात्राओं में विद्वतापूर्ण वाद–विवाद के सिलसिले में उसने बौद्धों को बदनाम करने के लिये बहुत कुछ किया।"(1)

शंकराचार्य एक महान दार्शनिक एवं विचारक थे। "इनका जन्म केरल प्रान्त के अल्वर नदी (मालवार तट) के उत्तरी किनारे पर स्थित कालादी नामक ग्राम में 788 ई0 के लगभग हुआ था। इनके पिता शिवगुरू नम्बूतिरि ब्राह्मण थे इनकी माता का नाम आर्यम्बा था।"(2) बहुत छोटी ही उम्र में इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और तभी से ये सन्यासी हो गये थे। गृह त्याग के पश्चात सर्वप्रथम ये नर्मदा नदी के तट पर आये जहां गौड़पद के शिष्य 'गोविन्द योगी' को उन्होंने अपना प्रथम गुरू बनाया। इन्होनें अपने छोटे से जीवन काल के दौरान समूचे भारत का भ्रमण किया और कठोर रूप से संगतिपूर्ण 'ब्रह्मवाद' के अपने नये दर्शन का प्रचार किया और शास्त्रार्थ में अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त की। इन्होंने अपने दर्शन में प्रत्यक्ष विविधताओं और विभेदों के कारण (माया) भ्रम बतालया है। शंकर ने बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा शत्रु माना। इन्होंने शब्द प्रमाण को अधिक महत्व दिया। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये किसी भी मत के अन्धानुकरण के विरोधी थे। इनका स्पष्ट मत था कि तर्क की कसौटी पर परखने के पश्चात् ही हमें किसी मत को ग्रहण करना चाहिये।

तत्कालीन समय में शंकराचार्य का दर्शन नवीन था, परन्तु इसमें कुछ कमियां भी थी। इनका 'मायावाद' तथा जगत को भ्रम मानने के सिद्धान्त संतोषप्रद नहीं थें इसमें केवल वही व्यक्ति ही विश्वास कर सकते थे जिनका उपनिषदों में दृढ़ विश्वास

---

(1) दक्षिण भारत का इतिहास नीलकंठ शास्त्री पृ0सं0 467

(2) प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति के0सी0 श्रीवास्तव पृ0 सं0 891

हो। अन्य मतावलम्बी इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते थे। डॉ0 देवराज के शब्दों में– "इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अछूत वेदांत हमें भावात्मक, नैतिक तथा ऐतिहासिक प्रयत्न या प्रयत्न शीलता की सबल प्रेरणा नहीं देता है।"(1)

शंकराचार्य ने जहां एक और बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा शत्रु माना है, वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों के अनुसार इन्हें बौद्ध धर्म से विशेष प्रभावित मानते है। शंकर के ऊपर बौद्धमत के प्रभाव के विषय में विद्वान एक मत नहीं है। जो विद्वान इनको बौद्ध धर्म से प्रभावित मानते है उन्होनें शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' की संज्ञा से विभूषित किया है। इस विषय में गहराई से अध्ययन करने के पश्चात डॉ0 सी0डी0 शर्मा का विचार है कि "उनमें महायान के सर्वोत्तम तत्वों का समावेश है।"(2)

समाज शंकराचार्य के बताये हुये नीरस और शुष्क मार्ग पर न चल सका। अतः ब्रह्म की प्राप्ति के लिये किसी सरल विधि की खोज करने लगा। इसी समय समाज सुधारकों एवं दार्शनिकों पर 'श्रीमद् भागवद् गीता' की शिक्षायों का विशेष प्रभाव पड़ा। भागवत गीता या गीता का भारतीय विचारधारा के इतिहास में लोकप्रियता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान युग में भी यह हिन्दुओं एवं वैष्णव सम्प्रदाय का सबसे प्रसिद्ध एवं पवित्र ग्रन्थ है। इसमें प्रत्येक धर्म को मानने वालों के लिये रोचक एवं महत्वपूर्ण सामग्री मिल जातीं है। डॉ0 राधाकृष्णन के शब्दों में 'यह किसी सम्प्रदाय विशेष की पुस्तक नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव समाज की सांस्कृतिक निधि है जो हिन्दू धर्म को उसकी पूर्णता में उपस्थित करती है।

भगवतगीता में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों का समन्वय मिलता है। भक्ति को इस ग्रन्थ में भगवान की निष्काम सेवा बताया गया है। इस प्रकार यह कर्म का ही एक रूप है। वास्तव में ज्ञानी ही निष्काम कर्मयोझी है। अतः ज्ञान के अभाव में भी भक्ति

---

(1) भारतीय दर्शन डॉ0 देवराज पृ0सं0 561

(2) एक्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी सी0डी0 शर्मा पृ0सं0 253

संभव हो सकती है। गीता का कथन है कि– ''हमें कर्मो को करते हुये उसका फल ईश्वर में अर्पित कर देना चाहिये। कर्मो का अनुष्ठान एकप्रकार से भगवान की पूजा ही है जिससे मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।''(1) यहां कर्म तथा भक्ति का समन्वय है। कर्म योझी को भगवान की तरफ से यह आश्वासन प्राप्त रहता है कि उसका विनाश नही होता है। गीता का स्पष्ट मत यह भी है कि ज्ञान की प्राप्ति प्रणिपत्ति (पूर्ण समर्पण) तथा सेवा से ही संभव है। जिसमें श्रद्धा है वही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद् भागवत गीता में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का अदभुत समन्वय दिखाई देता है। जो अन्यत्र सर्वथा दुष्प्राप्त है। इसका स्वर पूरी तरह से आशावादी है जिसमें निराशावाद के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य करने वालों के लिये गीता का यह आदेश सदा प्रेरणा का स्रोत रहेगा– अच्छा कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है, तथा निष्काम कर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान भी महान भय से रक्षा करता है।

गीता की शिक्षाओं से प्रभावित होकर एवं सामाजिक असंतोष के कारण तत्कालीन दार्शनिकों तथा धर्म प्रचारको ने 'गीता' को मुख्य आधार बनाकर एक नये सम्प्रदाय का निर्माण किया। जिसके अन्तर्गत 'भक्ति' के द्वारा मनुष्य को ईश्वर के सन्निकट पहुंचाने का प्रयास किया। मुक्ति का यह मार्ग अन्य मार्गो की अपेक्षा ज्यादा सरल था। जिसके फलस्वरूप समाज में शक्ति की एक नयी लहर फैल गयी और अब सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति का प्रचलन शुरू हो गया। सगुण भक्ति में ईश्वर को साकार ब्रह्म तथा निर्गुण भक्ति में ईश्वर को निराकार ब्रह्म माना जाता है। इन दोनों प्रकार की भक्ति का समन्वय गीता में है। और अब समाज में विष्णु के साथ–साथ इनके अवतारों की भी पूजा का प्रचलन अधिक बढ़ गया था। इनके अवतारों में श्री राम तथा श्री कृष्ण को विशेषतयः ज्यादा महत्व दिया गया। इन्हीं की भक्ति में किसी "प्रतिभा शाली संत या

---

(1) श्रीमद् भागवत गीता अध्याय –18 श्लोक–46

किसी और व्यक्ति के नेतृत्व में भक्तों के दल तमाम रास्ते नाचते, गाते और धार्मिक विवाद करते हुये देश का बार–बार भ्रमण करते थे।''[1]

इन संतों तथा विशेष व्यक्तियों के भारत भ्रमण एंव धर्म प्रचार के दौरान अनेक प्राणी भी इनके द्वारा बताये हुये रास्ते पर चलने लगे तथा इनका अनुसरण करने लगे। जिससे इनके अनुयायियों की संख्या में लगातार वृद्धि होने लगी। इन संतों के द्वारा बताये गये भक्ति मार्ग पर चलने वालों की संख्या अधिक होने के कारण यह एक सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया और इन सम्प्रदायों के नाम इनके इष्ट देवों के नाम पर पड़ने लगें। इस समय भगवान विष्णु के अवतारों (विशेषतः राम तथा कृष्ण) की पूजा का अधिक प्रचलन था। जिसके कारण इन सम्प्रदायों को वैष्णव सम्प्रदाय की संज्ञा दी जाने लगी।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि, गुरू परम्परा से जो सम्यक् रूप से चला आ रहा है और गुरू जिसमें शिष्य को सम्यक् रूप से मन्त्र, आराध्य, आराधना पद्धति तथा आचार पद्धति प्रदान करता है, उसका नाम सम्प्रदाय है और इसी परम्परा के विकास में कालान्तर में कई सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। जिसमें वैष्णव सम्प्रदाय अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

---

(1) द हिस्ट्री ऑफ साऊथ इण्डिया नीलकंठ शास्त्री पृ०सं० 462

(ख) वैष्णव सम्प्रदाय का उद्‌भव एवं विकास

भारतीय संस्कृति में धर्म का सदैव महत्वपूर्णस्थान रहा है। यहां धर्म साक्षात् ईश्वर का स्वरूप है। प्राचीन काल से ही यह भूमि अनेक धर्मोएवं सम्प्रदायों की क्रीड़ास्थली रही है। धार्मिक सहष्णुिता का जो आदर्श हमें यहां देंखने को मिलता है वह विश्व की किसी अन्य संस्कृति में दुलर्भ है।

वैदिक काल से ही यहां अनेक देवी–देवताओं की स्तुतियां की जाती हैं। पुराणों मं जिन देवी–देवताओं का उल्लेख मिलता है, उनसे सम्बन्धित अनेक स्वतंत्र सम्प्रदायों का हिन्दू–धर्म में विकास हुआ। विष्णु से वैष्णव, शिव से शैव, शक्ति उपासना से शाक्त आदि सम्प्रदायों का उद्‌भव हुआ। जिनकी उपासना पद्धतियां अलग–अलग थीं। ये हिन्दू धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

इन प्रमुख सम्प्रदायों में वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव भारतीय समाज पर विशेष रूप से पड़ा।

अनेक विद्वानों के मतानुसार वैष्णव सम्प्रदाय का उद्‌भव महाकाव्य काल में हुआ। कालान्तर में एकेश्वर वादी विचार धारा, जो कि ऋग्वैदिक काल के अन्त में प्रधानता प्राप्त कर रही थी, अब स्पष्ट रूप से सामने आ गयी थी।

महाकाव्य काल में इन सम्प्रदायों के इष्ट देवों की लोक प्रियता अधिक बढ़ गयी थी। अन्य देवताओं की औपाचारिकता मात्र थी। इसी समय से अवतारवाद का भी विकास हुआ। राम तथा कृष्ण को विष्णु का ही अवतार माना गया तथा उनमें समस्त गुणों को प्रतिष्ठित कर दिया गया।

भारतीय इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि वैष्णव सम्प्रदाय की प्रासंगिकता अति प्राचीन है। पूर्व गुप्त युग के अभिलेखों में वैष्णव धर्म में संलग्न आचार्य प्रधान रूप से दिखाई पड़ते हैं। ''बाणभट्ट ने विन्ध्य जंगल में राजकुमारी राजश्री की

खोज के सम्बन्ध में दो प्रमुख वैष्णव सम्प्रदायों का उल्लेख किया है– (1) भागवत सम्प्रदाय (2) पंचरात्र सम्प्रदाय। "सम्भवतः भागवत और पंचरात्र क्रमशः वासुदेव और नारायण के उपासक रहे होगें। बातापी के कुछ पूर्वकाल के चालुक्य शासकों ने भागवत धर्म को स्वीकार किया और बातापी की प्रसिद्ध मूर्तियां छठीं शताब्दी में दक्खिन में इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता को प्रमाणित करतीं हैं। भागवत सम्प्रदाय दक्षिण भारत का, विशेषकर तमिल देश (द्रविड़ देश) का विष्णु के उपासकों के विशेष स्थल की भांति उल्लेख करता है।[1] प्रारम्भ में ये दोनों सम्प्रदाय अलग थे जब कृष्ण–विष्णु का तादात्म्य नारायण से स्थापित हुआ तब वैष्णव धर्म की संज्ञा 'पांचरात्र धर्म' से हो गयी क्योंकि नारायण के उपासक पांचरात्र कहे जाते थे। इस प्रकार भागवत सम्प्रदाय ही कालान्तर में वैष्णव सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया।

छठीं शताब्दी का काल धार्मिक दृष्टि से क्रान्ति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस समय जैन एवं बौद्ध धर्म का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था। लोग डरने लगे कि पूरा देश ही जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव में चला जायगा। नास्तिकता का बढ़ता हुआ प्रभाव रोकने के लिये शिव एवं विष्णु उपासकों ने इन धर्मो का खुला विरोध किया। यह विरोध सर्वप्रथम दक्षिण भारत में शुरू हुआ। यह विरोध इतना उग्र एवं व्यापक हुआ कि इसने जन–आन्दोलन का रूप ले लिया। जिसका निष्कर्ष भक्ति आंदोलन के उत्कर्ष के रूप में हुआ।

"उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्नाटके गता।
क्वच्क्वि चिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णा गता।।

सर्वप्रथम भक्ति आन्दोलन का अविर्भाव द्रविड़ देश में हुआ। भागवत पुराण में स्पष्टतः कहा गया है कि भक्ति द्रविड़ देश में जन्मी, कनार्टक में विकसित हुई तथा कुछ काल तक महाराष्ट्र में रहने के बाद गुजरात में पहुंचकर जीर्ण हो गयी।"[2]

---

(1) भारत का वृहत् इतिहास (भाग–1) मजुमदार, रायचौधरी, दत्त पृ0सं0 177

(2) प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति के0सी0 श्रीवास्तव पृ0 सं0 718

द्रविड़ देश (तमिल क्षेत्र) के पल्लव तथा चोल राजाओं के संरक्षण में भक्ति आन्दोलन को चलाया गया। इस आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार नायनार एवं आलवर आचार्य थे। इनमें नायनार शैव मताम्बलम्बी तथा आलवार वैष्णव मतावलम्बी थे।

इस आन्दोलन में "बारह आलवर वैष्णव संत और तिरसठ नयनार शैव संतो"[1] ने मुख्य रूप से हिस्सा लिया। 'आलवर' शब्द का अर्थ है– अन्तर्ज्ञान रखने वाला वह व्यक्ति जो ईश्वरीय चिन्तन में पूर्णतः विलीन हो गया हो। इनके नाम क्रमशः (1) भूतयोगी (भूतत्तार), (2) सरोयोगी (पोयगई), (3) महायोगी (पेय), (4) भक्तिसार (तिरूमलिशई) (5) परांकुश मुनि या शठकोप (नम्मालवार), (6) मधुर कवि, (7) कुलशेखर (पेरूमाल), (8) विष्णुचित् (पेरिय), (9) गोदा (अण्डाल), (10) भक्तांध्रिरेणु (तोण्डर–अडि–पोडिय), (11) योगिवाह (तिरूप्पान), तथा (12) परकाल (तिरूमंगै आलवर)"[2] थे।

इन बारह आलवारों में से तीन क्रमशः पोयगरी, पूणम और पेय संभवतः सबसे पहले हुये होगें, ऐसा विश्वास किया जाता हैं। धार्मिक कथाओं के अनुसार इनका काल निर्णय कुछ असंभव सा प्रतीत होता है, ऐसा इतिहासकारों का मत है। ये तीनों क्रमशः कांची, मल्लई तथा मलयापुरम् के निवासी थी। विद्वानों के अनुसार ये तीनों आलवार संत सबसे पहले हुये थे। ये तीनों संत वर्षा से बचने के लिये एक संकरे स्थान पर जाकर खड़े हो गये, जहां इनके इष्ट देव स्वयं विष्णु भगवान आकर इनके साथ खड़े हो गये थे, ऐसा एक उपारव्यान में कहा गया है। इन तीनों प्रारम्भिक आलवर संतों की भक्ति अत्यन्त सरल एवं सीधी थी।

इन तीनों आलवर संतों के बाद तिरूमलिशई का नाम आता है। इनका जन्म चिंगेरपुर के ग्राम में हुआ था। इनके जन्म से सम्बन्धित एक कहानी प्रचलित है कि इनके जन्म के समय यह केवल आकृति विहीन मांस के एक लौंदा के समान थे। इनके

---

(1) मध्यकालीन भारत — मीनाक्षी जैन — पृ०सं० 121

(2) प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति — के०सी० श्रीवास्तव — पृ०सं० 720

माता–पिता ने इनका परित्याग कर दिया तथा एक शूद्र ने इन्हें पाला–पोसा था। ये संभवतः पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन प्रथम के समकालीन थे। इन्होने अपने भक्ति गीतों के माध्यम से जैन तथा बौद्ध धर्मो पर प्रहार करते हुये वैष्णव धर्म का जोरदार प्रचार किया। जनश्रुति के अनुसार इन्होनें श्री रंगम् के मठ का पुर्नउद्धार कराने के लिये नेटपट्टम के बौद्ध बिहार से एक बौद्ध प्रतिमा चुराई थी।

आलवर संतों में एक मात्र महिला साध्वी 'आण्डाल' का नाम मिलता है। ये भगवान विष्णु के अवतार 'श्रीकृष्ण' की अनन्य भक्त थी। इनके भक्तिगीतों में कृष्ण–कथायें ही बहुतायत में मिलती हैं। आण्डाल भी मध्ययुगीन कवियित्री मीराबाई के समान थीं। जिस प्रकार मीराबाई कृष्ण के प्रेम में दीवानी थीं उसी प्रकार आण्डाल ने भी कृष्ण की भक्ति की दीवानगी में सैकड़ों भजन गाये।

आलवर संतों की सूची के अंत में नाम्मालवार एवं इनके प्रिय शिष्य मधुरकवि का नाम उल्लेखनीय है। नाम्मालवार विष्णु को अनंत तथा सर्वव्यापी मानते थे। इनके अनुसार प्रभु की प्राप्ति का एकमात्र साधन भक्ति है। इन्होंने विष्णु की आराधना में हजारों की संख्या में भक्ति गीत लिखे। इनके शिष्य मधुरकवि ने अपने गीतों के माध्यम गुरू की महिमा का बखान किया।

आलवर सन्तों की भक्ति अत्यंत सरल थी। इन संतों ने ईश्वर के प्रति अपनी उत्कृट भक्ति–भावना के कारण अपने को पूर्ण रूपेण उसमें समर्पित कर दिया। इनकी मान्यता थी, कि सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर का शरीर है तथा सच्चा आनन्द ईश्वर के चरण कमलों की सेवा करने में है।

विद्वानों ने इन आलवर संतों की तुलना उस विरहणी स्त्री के साथ की है जो अपने प्रियतम के विरह वेदना में अपने प्राण तक खो देती है। आलवर संतों ने वैष्णव धर्म का प्रचार भजन, कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्तिदर्शन आदि के द्वारा किया। इन्होंने गोपी भाव के द्वारा भावित को सर्वोत्तम माना। ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम ही भक्ति है। जैसे

कोई प्रेमिका अपने प्रियतम के विरह में निरन्तर उसका चिंतन करती है तथा उसी से मिलने को आतुर रहती है, वैसे ही भक्त की मनोदशा अपने प्रियतम ईश्वर के मिलन के लिये होती है। इन संतों ने भक्ति को 'काम' कहा है यहां 'काम' का अर्थ ईश्वर के प्रति दिव्य प्रेम है। जिस प्रकार कालीदास के नाटक 'मेघदूत' मे यक्ष ने मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रेमिका के पास भेजा था, उसी प्रकार आलवर संतो ने उड़ते हुये हंसों तथा पक्षियों को अपने प्रियतम श्री कृष्ण के पास दूत बनाकर भेजते थे और उनसे कहते थे उन्हें कहीं हमारे प्रियतम दिखाई पड़े तो उनसे कहें कि वे क्यों उन्हें भूल गये और उनके पास नहीं आतें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आलवर संत सच्चे विष्णु भक्त थे। "श्रीमद् भागवत् में आत्म निवेदन अर्थात् ईश्वर में पूर्ण समपर्ण को सर्वोत्तम भक्ति माना गया है। आलवर संतों ने प्रेमाभक्ति द्वारा आत्म समपर्ण को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है"।[1]

आलवर संतों के प्रभाव से कई तत्कालीन राजाओं ने वैष्णव धर्म को स्वीकार कर राजधर्म बनाया तथा विष्णु के सम्मान में अनेक मूर्तियों एवं मंदिरों का निर्माण करवाया। इस प्रकार इन संतों द्वारा प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन बड़े वेग से प्रचलित हुआ। इन संतों द्वारा लिखित भक्ति गीतों को मंदिरों में गाया जाता था। अस्तु इस काल में धार्मिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र मंदिर थे।

इन आलवर संतों के बाद लगभग दसवीं शताब्दी में वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार नाथमुनि ने किया। इन्होंने वैष्णव सिंद्धान्तों को एक निश्चित रूप दिया। इन्होंने अपनी कृतियों में उस स्पष्ट आवश्यकता की अभिव्यक्ति दी जिसे उन्होंने जीवित ईश्वर के सहयोग और मार्ग-दर्शन के लिये अनुभव किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने प्रेममार्ग के दार्शनिक औचित्य का रास्ता बतलाया। नाथमुनि के बाद इनके पुत्र आलवंदार का इस कालावधि के वैष्णव आचार्यों के क्रम में दूसरा बड़ा स्थान था। इनका एक प्रसिद्ध नाम

(1) श्रीमद् भागवत्   अध्यांय -7   श्लोक-5

यमुनाचार्य था। इन्होने कृष्ण के बाल–जीवन से सम्बन्धित स्थानों की यात्रा की थी। इन्होंने अपना जीवन संयासी की तरह व्यतीत किया तथा बाद में धार्मिक शिक्षक बन गये। ये अपने शिष्यों के साथ वाद–विवाद करते तथा उन्हें उपदेश देते थे। "अपनी रचनाओं से, जिनमें से रामानुज ने अक्सर उद्धरण किये है, उसने सर्वोच्य आत्मा के साथ यर्थाथ अस्तित्व और व्यक्ति की आत्मा को चिर–स्वतंत्रता स्थापित करने की चेष्टा की।"[1]

सभी वैष्णव आचार्यो में सबसे महान निःसन्देह रामानुज थे। इनका जन्म 1017 में मद्रास के निकट श्री पेरूमबन्दर में हुआ था। इन्होंने प्रारम्भिक दार्शनिक प्रशिक्षण "कांची याकांचीवरम् में यादव प्रकाश की देखरेख में पाया था।"[2] यादव प्रकाश शंकराचार्य का मत मानने वाले थे। रामानुज यमुनाचार्य से पहली बार कांची में मिले थे। उस समय यमुनाचार्य ने रामानुज से प्रार्थना की कि श्री वैष्णवों की संख्या बढ़े और वे श्री रंगम वापस लौट गये। रामानुज पर इस बात का इतना प्रभाव पड़ा, कि वे अपने गुरू के उपदेशों से असहमत होने लगे तथा वैष्णव सम्प्रदाय के समर्थकों केप्रति आकृष्ट हुऐं। यमनुाचार्य ने रामानुज से प्रभावित होकर श्रीरंगम आने का संदेश भेजा परन्तु जब तक रामानुज उनके पास पहुंचे तब तक उनका स्वर्गवास हो चुका था। यमुनाचार्य के बाद रामानुज श्रीरंगम मठ के प्रधान बने तथा मंदिरों, विद्यालय पर उनका अधिकार हो गया। यहां इन्हें अधिकारी का पद मिला। इन्होंने धार्मिक शिक्षक तथा संघटन कर्ता के रूप में अपनी योग्यता सिद्ध की। इनका प्रभाव दिन–प्रतिदिन बढ़ने लगा। इन्होंने अपनी रचनाओं तथा उपाख्यानों के माध्यम से शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया। इन्होंने अपनी रचनाओं में यह दिखलाया कि उपनिषद कठोर ब्रह्मवाद की शिक्षा नहीं देते। इस प्रकार ये "श्री वैष्णव वाद के संस्थापक के रूप में लोकप्रिय हुये।"[3] इन्होंने विशिष्टाद्वैत का दर्शन तैयार किया

---

(1) हिस्ट्री ऑफ साऊथ इण्डिया — डॉ0नीलकंठ शास्त्री — पृ0सं0 469

(2) मध्यकालीन भारत — वी0डी0 महाजन — पृ0सं0 354

(3) मध्यकालीन भारत — मीनाक्षी जैन — पृ0सं0 121

अपने दर्शन के माध्यम से एक ईश्वर के प्रति भक्ति और वेदान्त के दर्शन के बीच अच्छा सामंजस्य किया। इनके दर्शन में कहा गया है कि आत्मा यद्यपि वही तत्व है जो ईश्वर है और वह उसी से निकली है, उससे उत्पन्न नहीं हुयी है। उसमें लीन होने में नहीं बल्कि उसके निकट रहने में ही आनन्द है।

रामानुज ने सामाजिक व्यवस्था को सुधारने का भी प्रयत्न किया। रामानुज भी आलवर संतों की भांति यह चाहते थे कि शूद्रों और अन्य बहिष्कृत जातियों के बीच भक्ति सिद्धान्तों का प्रचार हो। इन्होंने यह व्यवस्था की कि कुछ प्रमुख मंदिरों में वर्ष में किसी विशेष दिन बहिष्कृत जातियों को प्रवेश का अधिकार रहे। इन्होंने मंदिरों में होने वाले कर्मकाण्डों को कम करने की कोशिश की तथा जातीय एकता लाने की कोशिश की। इन्होंने अपने धर्म प्रचार तथा विचार का और विकास करने के लिये पूरे भारत की यात्रा की और इनकी इन यात्राओं के कारण उत्तर भारत में उनके सम्प्रदाय का प्रभाव व्यापक रूप से फैला।

रामानुज के तत्कालीन राजा कट्टर शैव धर्माम्बलम्बी थे। स्पष्टतः रामानुज का बढ़ता हुआ प्रभाव उन्हें अच्छा नहीं लगा। "चोल राजा ने भी उन्हें दण्डित किया तथा शैव बनाना चाहा।"[1] परन्तु इसबात से इतिहासकार असहमत हैं। लगभग 1098 में रामानुज को श्री रंगम छोड़कर मैसूर जाना पड़ा और यहां से ये लगभग 1122 तक वापस नहीं आये। इस बीच रामानुज ने होयसल राजा विष्णुवर्धन को जो कि जैन धर्माम्बलम्बी था उसे दीक्षित कर अपने धर्म में मिला लिया और इसी राजा की सहायता से मेलकोट में एक सुसंघठित मठ स्थापित किया।

रामानुज ने सगुण ईश्वर का उपदेश दिया। इन्होंने समस्त प्राणियों को त्याग और तपस्या द्वारा निःस्वार्थ भक्ति करने को कहा। रामानुज के अनुयायियों की संख्या उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में अधिक थी। सामान्यतः रामानुज का

---

(1) मध्यकालीन भारत विद्याधर महाजन पृ०सं० 355

विशिष्टाद्वैत वाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया मानी जाती है। रामानुज की पूजा वैष्णव मंदिरों में एक अवतार के रूप में होती है।

रामानुज से उम्र में छोटे तथा उनके समाकालीन निम्बार्क थे। इनका जन्म बेलारी जिला में निम्बापुर ग्राम में हुआ था। ये विद्वान भागवत तेलगु ब्राह्मण थे। विष्णु के अवतार श्री कृष्ण की भक्ति करते थे। इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय उत्तर भारत में वृन्दावन में बिताया। ये रामानुज के दर्शन विशिष्टाद्वैत दर्शन से प्रभावित जरूर थे, परन्तु पूर्ण सहमत नहीं थे। इनके अनुसार भक्ति कृपा स्वरूप प्राप्त की जा सकती है। इन्होंने धर्म में आत्म समर्पण (प्रपत्ति) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। निम्बार्क श्री कृष्ण के साथ राधा की भी उपासना करते थे। इनके अनुसार "राधा कृष्ण केवल प्रिया नहीं बल्कि चिरसंगिनी हैं जो उनके साथ सबसे बड़े स्वर्गलोक में बराबर रहती है।"[1]

निम्बार्क ने एक नये सम्प्रदाय "सनकादिक सम्प्रदाय की स्थापना की। ये सम्प्रदाय रामानुज के सम्प्रदाय से सम्बद्ध तो था पर उससे अलग था। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को 'द्वैताद्वैतवादी' कहा जाता था। इन्होंने अपने विचारों पर एक टीका तथा सिद्धान्त रत्न का प्रतिपादन किया, जो कि वेदान्त सूत्रों पर आधारित था, दर्शन के क्षेत्र में निम्बार्क ने यह स्वीकार किया कि ईश्वर, आत्मा और संसार अभिन्न हैं परन्तु तीनों अलग हैं।

निम्बार्क का सिद्धान्त सरल था। इनके अनुसार परमानन्द की प्राप्ति के लिये भगवान कृष्ण के चरण–कमलों में आत्मसमर्पण ही एक मात्र रास्ता है। उत्तर भारत में निम्बार्क के शिष्य बड़ी संख्या में हैं।

रामानुज के बाद के वेदान्तियों में मध्व या मध्वाचार्य का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म श्रृंगेरी से चालीस मील दूर कनारा जिले के कल्याणपुर नामक स्थान पर हुआ था। मध्वाचार्य भी रामानुज की तरह छोटी सी उम्र में संयासी हो गये थे। इनकी

---

(1) दक्षिण भारत का इतिहास डॉ० ए०के०एन० शास्त्री पृ०सं० 470

प्रारम्भिक प्रशिक्षण शंकराचार्य के सिद्धान्तों में हुआ। ये जाति के ब्राह्मण थे। अपनी शिक्षा के समाप्त होने के पूर्व ही इनका मन विचलित हो गया था। इन पर वैष्णव सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा। इन्होंने अपना नया सम्प्रदाय आरम्भ किया। जो मुख्यतः भगवतपुराण पर आधारित था। जनश्रुतियों में कहा गया है कि माध्वाचार्य में शारीरिक कष्ट सहने की अपार क्षमता थी। त्रिवेन्द्रम् में श्रंगेरी के एक आचार्य के साथ शास्त्रार्थ में इनकी पराजय हुई और इनका पुसतकालय लूट लिया गया। बाद में इन्हें कई प्रकार से दण्डित किया गया।

इन्होंने वेदान्त सूत्रों पर अपना टीका प्रकाशित किया, तथा उदपी में आने के बाद इन्होंने एक कृष्ण मंदिर का निर्माण करवाया तथा उपदेश करने, दूसरों का धर्म परिवर्तन कराने और 'भ्रम में पड़े लोगों' को सही राह पर लाने में अपना समय बिताया।

इन्होंने ''ब्रह्म सम्प्रदाय का विशेष प्रचार प्रसार किया''।[1] ''इन्होंने ब्रह्म का समीकरण विष्णु से स्थापित कर द्वैतवाद का प्रतिपादन किया।''[2] इन्होंने अपने दर्शन में बताया कि विश्व पर दो व्यक्तियों विष्णु और लक्ष्मी के रूप में ईश्वर शासन करताहै।संसार की समस्त आत्मायें उससे चिरकाल तक अलग रहतीं हैं। इन्होंने विभिन्न प्रकार की आत्माओं की सत्ता को स्वीकार किया है। मध्व के अनुसार ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण ही है। इन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवान विष्णु की कृपा को आवश्यक बताया।

इस प्रकार माधव अस्सी साल तक वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार करने के बाद 96 वर्ष की उम्र में जब एक दिन उपदेश दे रहे थे तो एकाएक अदृश्य हो गये और फिर उन्हें कभी नहीं देखा गया। ब्रह्म सम्प्रदाय के अनुयायी इन्हें वायु का अवतार मानते हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार करने वाले एक प्रसिद्ध संत बल्लभाचार्य थे। इनका जन्म

---

(1) मध्यकालीन भारत — विद्याधर महाजन — पृ०सं० 347

(2) प्राचीन भारत की सभ्यता एंव संस्कृति — के०सी० श्रीवास्तव — पृ०सं० 910

बनारस के निकट 1479 ई0 में एक तमिल ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये चैतन्य के समकालीन थे। ये बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धि के प्रतिभाशाली बालक थे। इन्होंने वेदान्तसूत्रों पर टीका के अतरिक्त संस्कृत में कई पुस्तकें लिखीं। एक बार ये "विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय के दरबार में गये, जहां उन्होंने कई शैव पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। वे संसार से वैराग्य लेने के पक्ष का समर्थन करते थे तथा आत्मा एवं संसार दोनों के परमेश्वर के साथ पूर्ण सरूप्य पर जोर देते थे। उनका एकवाद शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध था।"(1)

इनके सम्प्रदाय को रूद्र सम्प्रदाय कहा गया। इससम्प्रदाय के आचार्यो को महाराज कहते थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की सबसे बड़ी अभिलाषा गोपी बनकर स्वर्ग में अनन्त काल तक श्री कृष्ण के साथ क्रीड़ा करना थी।

उत्तर भारत में वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार में रामानन्द का नाम अग्रणी है। इनके जन्म और मृत्यु की तिथियों के विषय में मतभेद है। "आर0 जी0 भण्डारकर का मत है कि रामानन्द सन 1299–1300 में पैदा हुये और इनकी मृत्यु ई0 सन 1411 में हुयी।"(2) इनका जन्म प्रयाग (इलाहाबाद) के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने प्रेम तथा भक्ति को आधार बनाकर एक नया वैष्णव सम्प्रदाय चलाया था। कुछ इतिहासकारों का मत है इन्होंने श्री सम्प्रदाय, जो रामानुज ने चलाया था, उसी का प्रचार किया था। इन्होंने जाति भेद की उपेक्षा की। स्वयं ब्राह्मण होते हुये भी यदि निम्न जाति के व्यक्ति वैष्णव हों तो उनके साथ भोजन करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। इन्होंने उत्तर भारत के सभी तीर्थ–स्थानों का भ्रमण किया था। ये विष्णु अवतारी श्रीराम के उपासक थे, तथासभी वर्गों के सदस्यों को हिन्दी में भक्ति के सिंद्धान्तों का उपदेश देते थे। इनके शिष्यों में नीच जाति के व्यक्ति भी थे। इनके प्रमुख शिष्यों की संख्या बारह

---

(1) भारत का वृहत् इतिहास — रायचौधरी, मजुमदार, दत्त — पृ0सं0 125

(2) मध्यकालीन भारत — विद्याधर महाजन — पृ0सं0 355

है जो क्रमशः "अनन्तानन्द, कबीर, पीपा, भवानन्द, सुरसर, पद्मावती, नरहरि, रैदास, धन, सैन, तथा सुरसर की स्त्री भी थी।"[1]

रामानन्द ने कृष्ण और राधा के स्थान पर राम तथा सीता की भक्ति का आरम्भ किया। इन्होंने भक्ति का एक नया आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त किया। इनके एक गीत में कहा गया है "मैं ब्रह्म की पूजाअर्चना के लिये चंदन तथा गंध द्रव्य लेकर जाने को था। किन्तु गुरू ने बताया कि ब्रह्म तो तुम्हारे हृदय में है। जहां भी मैं जाता हूँ पाषाण और जल की पूजा देखता हूँ, किन्तु यह परम शक्ति है जिसने सब जगह ये फैला रखा है। लोग व्यर्थ में ही इसे वेदों में देखने का प्रयत्न करते हैं। मेरे सच्चे गुरू ने मेरी असफलताओं और भ्रांतियों को समाप्त कर दिया। यह उसकी अनुकम्पा हुई कि रामानन्द अपने स्वामी ब्रह्म में खो गया। यह गुरू की कृपा है जिससे कर्म के लाखों बन्धन टूट जाते हैं।"[2]

राधा कमल मुखर्जी ने रामानन्द की भक्ति आंदोलन में योगदान के बारे में लिखा है कि रामानन्द ने दक्षिण भारत के आलवर संतों का भक्ति भाव लिया था, लेकिन बहिष्कृत जातियों को धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती तथा उनके साथ धार्मिक समता और भ्रातृभाव का व्यबहार नहीं किया जा सकता, इस सिद्धान्त का इन्होंने घोर विरोध किया।

वैष्णव संतों में सबसे महान तथा लोकप्रिय निःसंदेह चैतन्य थे। इनका जन्म 1485 ई0 मे बंगाल में हुआ था। "नभद्वीय में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे चैतन्य कोस्वयं कृष्ण का अवतार माना जाता था।"[3] अपने प्रारम्भिक जीवन में इन्होंने अद्भुत साहित्यिक तीक्ष्णता का परिचय दिया। शीर्घ ही इनकी आत्मा इस संसार के बन्धनों से

---

(1) भारत का वृहत् इतिहास (2) — रायचौधरी, मजुमदार, दत्त — पृ0सं0 125

(2) मध्यकालीन भारत — विद्याधर महाजन — पृ0सं0 355–56

(3) मध्यकालीन भारत — मीनाक्षी जैन — पृ0सं0 122

ऊपर उठने की उच्चाकांक्षा करने लगी। इन्होंने देश का भ्रमण किया तथा 24 वर्ष की छोटी आयु में ही संन्यास धारण कर लिया। "अपना शेष जीवन उन्होंने प्रेम तथा भक्ति के संदेश का उपदेश देने में व्यतीत किया– अठारह वर्ष उड़ीसा में तथा छः वर्ष दक्कन, वृन्दावन, गौड़, तथा अन्य स्थानों में।"(1) ये शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने जातीय बन्धन और अस्पृश्यता का घोर विरोध किया। इन्होंने कृष्ण की प्रेममयी भक्ति और रस कीर्तन का सरल उपदेश दिया। इन्होंने प्रेम ही जीवन का मुख्य आधार बताया। इनका विश्वास था कि जीवात्मा का प्रमुख ध्येय कृष्ण भक्ति में लीन रहना है। इन्होंने जीवन को कृष्ण की राधा बताया।

चैतन्य महाप्रभु ने प्रेम स्नेह और शांति का संन्देश दिया। ये कृष्ण प्रेम में इतना लीन हो जाते थे कि वृन्दावन के वनों एवं उद्यानों में कृष्ण की बांसुरी की ध्वनि का विचार ही उन्हें अत्यन्त उल्लास में डुबो देता था।

चैतन्य के अनुसार "कृष्ण प्रत्येक आत्मा में वास करता है और इसलिये दूसरों को सम्मान देता है, जबकि वह अपने लिये कुछ नही रखता। मुझे न शिष्यों की आवश्यकता है, न धन की, न ज्ञान की, न कवित्व की, मेरी आत्मा को उसकी भक्ति का एक अंश दे दो। गर्व अभिमान कोई लाभ नहीं पहुंचाते। जिसे गर्व का नाशक माना जाता है, वह कैसे तुम्हारा गर्व सहन कर सकता है।"(2)

इन्होंने निर्धनों एवं कमजोरों के उत्थान के लिये अनेक सराहनीय प्रयास किये। ये जाति प्रथा के विरूद्ध थे और मानव जाति के सर्वव्यापी भ्रातृभाव में विश्वास रखते थे। इनका दृढ़ विचार था कि भगवान कृष्ण का नाम जांति–पांति के बन्धनों से अपरिचित है।

चैतन्य के विषय में डॉ0 ए0बी0 पाण्डेय ने लिखा है कि उनकी शिक्षाओं

---

(1) भारत का वृहत् इतिहास — मजूमदार, दत्त — पृ0सं0 125

(2) मध्यकालीन भारत — बी0डी0 महाजन — पृ0सं0 359–60

का भाव सीधे व्यक्तियों के हृदय पर होता था। इनकी शिक्षाओं का प्रभाव सभी जातियों तथा सभी वर्गों के मुनष्यों पर होता था। दुःखी व्यक्तियों के लिये उनके उपदेश सुखदायक मरहम का काम करते थे।

इनके प्रभाव से गौड़ हुसैन शाह के मुख्यमंत्री, मुख्य मुंशी सहित अन्य पदाधिकारयों ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया था।

अतः वैष्णव सम्प्रदाय का आविर्भाव भक्ति आन्दोलन से प्रारम्भ होता हुआ भिन्न–2 आचार्यो के मत–मतान्तर तथा उनके द्वारा बनाए गए मार्ग एवं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि पर कदम रखता हुआ आगे बढ़ता गया।

निःसन्देह आचार्यो एवं उनके द्वारा बताए गए मार्ग एवं निर्देशों पर चलने वाले उनके शिष्य समुदायों ने वैष्णव सम्प्रदाय को जीवन्त रखा है, क्रम से एक के बाद एक परिवर्तिन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर चलता हुआ अग्र एवं पृष्ठ को जोड़ता हुआ विकसित होता रहा।

(स) वैष्णव सम्प्रदाय का वर्तमान स्वरूप

वैष्णव सम्प्रदाय का अर्थ एवं स्वरूप–

वैष्णव शब्द विष्णु से जुड़ा है। विष्णु पुराण में 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में मिलती है– 'विशतीति विष्णु'

"यस्माद्विष्ट मिंद विश्वं तस्य शक्तया महात्मनः।

तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्।"[1]

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा की ही शक्ति से व्याप्त है जो 'विष्णु' कहलाते है। क्योंकि 'विश' धातु का अर्थ प्रवेश करना है। जिस कारण ब्रह्म परमात्मा की की माया शक्ति से जड़ –चेतनात्मक कार्य स्वरूप ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, और जो चराचर विश्व के अभ्यन्तरर में प्रवष्टि होकर उन्हें धारण करते हैं, वे ही सचराचर विश्व की उत्पत्ति एवं पालन करने के कारण भगवान विष्णु के नाम से पुकारे जाते हैं। उन सर्वव्यापक सगुण विष्णु के उन्मेष और निमेष मात्र से संसार की उत्पत्ति एवं प्रलय होती है।

भगवान विष्णु की उपासना करने वालों को वैष्णवजन कहा जाता है तथा उनके समूह को वैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है। इस वैष्णव सम्प्रदाय के लोग भगवान विष्णु के विविध अवतार–स्वरूपों का अर्चन–वंदन कर अपनी आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर अपने मानव शरीर धारणा के मूल उद्देश्य की प्राप्ति हेतु निमग्न होते है।

भारत में समय–2 पर अनेकों ऐसे विष्णु भक्त हुये हैं, जो अपनी साधना एवं कठिन तपस्या के कारण समाज तथा इतिहास में अमर हो गये। इन्हीं अमर भक्तों में एक राजस्थान के राजघराने की बहू मीराबाई थी। इनकी भक्ति की अमर गाथा

---

(1) विष्णु पुराण *3–1–45*

सर्वविदित है। किस प्रकार इन्होंने अपना सर्वस्व श्री कृष्ण के चरणों में अर्पित कर उन्हीं में समा गयीं। मीराबाई ने वैष्णवों की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की है–

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे।

पीर परायी जाणे रे।।

अस्तु वैष्णव जन तो वे होते हैं जो दूसरों को पीड़ा न पहुंचाकर, उनकी पीड़ा को समझते हैं और उस पीड़ा के निदान के लिये उपक्रम करते हैं। वैष्णव जनों के मन में सभी के लिये प्रेम होता है। वे किसी का न तो अहित करते हैं और न ही दुःख पहुंचाने की बात सोचते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में वैष्णव भक्तों की मनोकामना का वर्णन करते हुये लिखा है कि–

"शस्वत् सुदृढ़ा भक्ति हरि दास्यं सुदुर्लभम्।

स्वप्ने जागरणे भक्ता वान्छन्त्येवं वरं वरम्।।"[1]

अर्थात् भगवान की सुदृढ़ भक्ति और श्री हरि का परम दुर्लभ दास्य प्राप्त हो यही सोते –जागते मेरे लिये श्रेष्ठ वर है।

भगवान विष्णु से सम्बन्धित अनेक सम्प्रदायों का उदय भारत में हुआ। इनमें कुछ सम्प्रदाय वर्तमान में भी कार्यरत हैं। तथा कुछ सम्प्रदाय इन्हीं सम्प्रदायों में विलीन हो गये या लुप्त हो गये। वर्तमान में जो वैष्णव सम्प्रदाय कार्यरत हैं उनका वर्णन इस प्रकार है–

(1) निम्बार्क सम्प्रदाय– इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रणेता आचार्य निम्बार्क थे। इतिहासकारों के अनुसार "निम्बार्क ने सनकादि नामक सम्प्रदाय की स्थापना की तथा इसका विशेष प्रचार–प्रसार किया। इनके अनुयायियों को द्वेताद्वैतवाद कहा जाता था।"[2]

---

(1) ब्रह्मवैवर्त पुराण 12/36

(2) मध्यकालीन भारत वी0डी0 महाजन पृ0सं0 347

परन्तु वर्तमान में यह सम्प्रदाय 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है, इनके अनुयायी इन्हें भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार मानते हैं।

आदि वैष्णवाचार्य, सुदर्शन,चक्रावतार अनन्त श्री जगद्गुरू भगवान निम्बार्क ने मोक्ष प्राप्ति के लिये बह्म की साधना प्रवर्तित की। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा संगुण बह्म की उपासना जीव के लिये सहज, साध्य एवं कल्याणकारी बताई है। अतएव साधक के लिये सत्वगुणाधिपति भगवान श्री कृष्ण की युगलमूर्ति की उपासना का ही विधान किया गया है। निम्बार्क ने जो साधना प्रचलित की, वह सार्वभौम थी। आचार पालन उनकी उपासना की आधार शिला थी। इनका सिंद्धान्त था कि सदाचार सम्पन्न व्यक्ति ही ईश्वर के समान महान गुणों वाला हो सकता है। यदि मनुष्य को अपनें में दैवीगुणों को एकत्र करना है, तो उसे आध्यात्मिक भक्ति योग की साधना करनी चाहिये। संयम और साधना ही सफल जींवन की कुंजी है और इसीलिये आचार की प्राथमिकता मानी गयी है। निम्बार्क ने मानव को संयमी बनाने के लिये पंचसंस्कार प्रचलित किये थे। वास्तव में ये संस्कार जीव का परिमार्जन करने वाले हैं। इन संस्कारों की महत्ताको सभी वैष्णवाचार्यो ने एकमत से स्वीकारा है। निम्बार्क के एक शिष्य श्री निवासाचार्य जीं ने श्री निम्बार्क आचार्य को पंचसस्कारदायी कहा है।

"तापः पुण्ड्र तथा नाम मन्त्रो यागच्श्र पच्चमः।

अमी हि पञ्च संस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः।।"[1]

नारदपांचरात्र के अनुसार आचार्य श्री निम्बार्क जी द्वारा प्रतिपादित ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र और योग– ये पांच संस्कार है। अतः वृत्तियों को संयमित करने के लिये इनकी परम आवश्यकता है। निम्बार्क का मत था कि इन पंच संस्कारों से सुशोभित होकर मानव श्री हरि की कृपा प्राप्त कर सकता है।

---

(1) नारदपांचरात्र 2/2

"अंकित शंख्ङ चक्राभ्यामुभयोबार्हुमूलयोः।

समर्च्चयेद्वरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत।।"[1]

जिसकी दोनों भुजाओं पर शंख–चक्र के चिन्ह अंकित हों, ऐसा साधक नित्य सर्वेश्वर श्रीहरि का सम्यक् प्रकार अर्चन–वन्दन करे, उसके द्वारा की गयी पूजा कभी व्यर्थ नही जाती।

"उर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः सर्वलोकेषु पूणितः।

विमानवरमाह्म मति विष्णोः परं पदम्।।"[2]

उर्ध्वपुण्ड्र–तिलक धारण करने वाला विप्र किंवा साधक, जो सर्वत्र सम्पूजित होता है, वह इस पांचभौतिक शरीर को त्यागने पर दिव्य विमान में सुशोभित होकर भगवान विष्णु–वासुदेव श्री कृष्ण के नित्य धाम को प्राप्त करता है।

"वैष्णोडसि हरिदासोऽसीति शिष्यं वदेत् गुरूः।

अक्ङमेच्छख्ङ चक्रभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्।।

बिना नाम चरन्धर्म रिक्तो भवति मन्दधीः।

मुकुन्दनाम संस्कार विहीनस्तु बहिर्मुखः।।"[3]

श्री गुरूदेव स्वंय शिष्य को शिक्षा–दान के समय शंख–चक्र से अंकित कर वैष्णवपरक नामकरण कर इस प्रकार निर्देश करें कि तुम आज से वैष्णवरूप में तथा श्री हरि के शरणागत दास रूप में अवस्थित हो।

बिना नाम–संस्कार के मन्दमति साधक धर्म का सेवन करने पर भी फल से वंचित रहता है। मुकुन्द–नाम संस्कार रहित वह सदा ही बहिर्मुख है।

---

(1) स्मृति शास्त्र — चौखम्बा संस्कृत सीरीज

(2) पद्मपुराम — उत्तरखण्ड — 225/5

(3) आगमशास्त्र — चौखम्बा संस्कृत सीरीज

"तुलसीकाष्ठसम्भूतां माला यो वहते नरः।

तारितं च कुलं तेन यावद्रामकथा क्षितौ।।"[1]

अर्थात जो मानव तुलसी काष्ठमाला धारण करता है, वह जब तक इस भूतल पर श्री राम कथा विद्यमान है,तब तक अपने समस्त कुलको इस भव सिन्धु से तार देता है।

"मन्त्रान् श्रीमन्त्रराजादीन् वैष्णवान् गुर्वनुग्रहात्।

सर्वेश्वर्यं जपन्प्राप्य याति विष्णोः परं पदम्।।"[2]

श्री गुरूदेव के परमानुग्रह से उनसे प्राप्त मंत्र एवं मंत्रराज इन भगवदीय मंत्रों के जप करने पर साधक सर्वेश्वर विष्णुरूप भगवान श्री कृष्ण के परम दिव्य धाम को प्राप्त करता है।

आचार्य श्री निम्बार्क के अनुसार इन पंच संस्कारों को भगवन्निष्ठ परम धीर महामनस्वी प्रशस्त सद्गुरूदेव द्वारा शरवापन्नसाधक प्राप्त कर लेता है तो उसका मानव जन्म परम सार्थक हो जाता है। इन संस्कारों के समाश्रय सेमानव शास्वत परमानन्दरस सुधासिन्धु में अवगाहन पूर्वक नित्य नव युगल किशोर श्यामाश्याम श्री राधा कृष्ण की अनुकम्पा का भाजन हो जाता है।

अतः मानव इस भवार्णव के दुःख द्वन्दों से रहित होकर सदा–सर्वदा उनके नित्य परिकर में अवस्थित रहकर अनन्त रसामृत का पान करता है और यही मानव–जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

बल्लभ सम्प्रदाय–भारत वर्ष के विभिन्न वैष्णव मतों में बल्लभ सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है। इतिहासकारों के अनुसार "इन्होंने 'रूद्र सम्प्रदाय' का विशेष प्रचार–प्रसार

---

(1) स्कन्द पुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर

(2) वेदान्त–कामधेनु दशश्लोकी — आचार्य श्री निम्बार्क

किया था।"[1] तथा इनके द्वारा प्रतिपादित "एकवाद को शुद्धाद्वैत कहा जाता है।"[2]

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आराध्य देव श्रीकृष्ण स्वरूप प्रभु श्री नाथ जी हैं। नन्दनन्दन प्रभु श्री नाथ जी की सेवा और उसके माध्यम से जीवन में शुभ संस्कारों का अवतरण इस सम्प्रदाय की अपनी विशेषता है। इस पुष्टि मार्ग में प्रभु सेवा ही मुख्य संस्कार है। प्रभु की दैनन्दिन–सेवा प्रत्यूष की बेला से ही प्रारम्भ हो जाती है और सेवायें भी ऐसी जो प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक झाँकी एवं विभिन्न भोग–रागों में सन्निहित होती हैं। प्रभु की सेबायें एक ओर भगवदानन्द की भागीरथी बहाती हैं तो दूसरी ओर शुभ विचारों की सरस्वती की प्रवाहन कर देती हैं। जिन्हें इस भागवत् सेवा के रस का चसका लग जाता है, उनका सम्पूर्ण जीवन प्रभु की भक्ति से सम्पृक्त हो उठता है। प्रभु सेवा से सद्विचारों की कलिमलहारिणी कालिन्दी प्रवाहित हुये बिना नहीं रहती।

आचार्य श्री मद्वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि मार्ग में प्रभु सेवा के द्वारा ही जन मानस में अनेक मनोद्वेगों का शमन कर सदाचरण करते हुये सुख शान्तिमय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी है।

बल्लभ सम्प्रदाय में प्रातः सूर्यो उदय से पूर्व प्रभु श्री नाथ जी को जगाया जाता है। प्रभु के दर्शनार्थ मन्दिर पहुंचने वाले असंख्य भक्तों को प्रभुदर्शनार्थ पहले ही जागना पड़ता है, ताकि वे मंगला के लाभदायक दर्शन प्राप्त कर सकें।

तदान्तर प्रभु को स्नान कराया जाता है। उन्हें नये–नये वस्त्र पहनाये जाते हैं। आभूषण–अलंकार पहनाकर उन्हें सुसज्जित किया जाता है। जिससे नन्दलाल भुवनमोहन बन जाते हैं। श्रृंगार होने के पश्चात प्रभु की रूप माधुरी के दर्शन अत्यन्त नयनानन्द होते हैं। भक्त कवि सूरदास जी के शब्दों में–

---

(1) मध्यकालीन भारत — वी0डी0 महाजन — 347

(2) ब्रहत् भारत का इतिहास — रायचौधरी, मजूमदार, दत्त — 125

"चारू कपोल लोल लोचन छबि गोरीचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मन्त मधुप गन मादक मधुप पिये।।
कंठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत रूचिर हिये।
धन्य 'सूर' एकौपल या सुख का सह कल्प जिये।।"[1]

प्रातः की सेवा में सबसेबड़े दर्शन 'राजभोग' के होते हैं। इसमें आनन्दकन्द प्रभु के परमानन्ददायक दर्शनों के पूर्व प्रभु को राजभोग लगाया जाता है। राजभोग की इस महती सेवा में एक ओर बाल मनोविज्ञान की शिक्षा छिपी है तो दूसरी ओर नाना प्रकार के पकवान बनाने की अनूठी सीख इस सम्प्रदाय से ली जा सकती है। आज भी वैष्णवजन प्रभु श्रीनाथ जी के सकड़ी महाप्रसाद को ग्रहण करने के लिये लालायित रहते हैं और जो लेते हैं वे रसास्वादन करने से अघाते नहीं हैं। इन्हीं अनेक विशिष्टतायों से सम्पन्न बल्लभ सम्प्रदाय को रस सम्प्रदाय कहा जाता है।

अपरान्ह में प्रभु के विश्राम के पश्चात उठाना 'उत्थापन' कहा जाता हैं। उनींदेनयन अल्प श्रृंगार में यह प्रभु की मनमोहक झाँकी है। अन्तिम दर्शन को 'शयन' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। प्रभु को शयन करना और नींद नहीं आना एवंमात यशोदा का लोरी गाकर बालक को सुलाना भारतीय संस्कृति है। इसमें मां के प्यार का प्रांजल स्वरूप देखते ही बनता है। इस दृश्य का वर्णन सूरदास जी ने अपने ग्रंथ में किया है–

"जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोई सोई कछु गावै।।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, ताकौं कान्ह बुलावै।।"[2]

इस सम्प्रदाय में इसी भक्ति भाव के साथ नित्य प्रतिदिन पूजन–वन्दना

---

(1) सूरसागर सूरदास

(2) सूरसागर सूरदास 661

की जाती है तथा इसके साथ ही साथ संगीत और वाद्य यंत्रों की सुरीली तान, कर्णप्रिय कीर्तन परम्परा, संगीत परम्परा के अन्तर्गत कीर्तन एवं शास्त्रीय पद्धति दोनों का समावेश देखने को मिलता है। वाद्य यंत्रों की गूंज प्रत्येक दर्शनार्थी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यहां श्रीकृष्ण स्वरूप प्रभु श्री नाथ जी की सेवा में भोग की भागीरथी श्रृंगार की कालिन्दजा और संगीत की सरस्वती अदृर्निश प्रवाहित होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बल्लभ सम्प्रदाय में प्रभु सेवा के साथ ही इनके अनुयायियों को शुभ संस्कारों का शिक्षण सहज ही प्राप्त होता है। इन सेवा संस्कारों की सम्पन्नता में मानव के काम क्रोध, लोभ–मोह ओर मात्सर्य आदि दबे रहते हैं तथा सद्‌गुणों का स्फुरण होता है।

श्री रामानन्द सम्प्रदाय– वैदिक सनातन संस्कृति की मान्य परम्पराओं में श्री रामानन्द सम्प्रदाय अपनी अनेक विशिष्टताओं के कारण सर्वोच्च स्थान रखता है। इन विशिष्टताओं में सर्वप्रमुख इसका सार्वभौम उदार दृष्टिकोण है। श्री रामानन्द सम्प्रदाय का स्वीकृत सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत है। इस सिद्धान्त कीं विशेषतायों में अन्यतम है प्रपत्ति की अवधारणा। जो कर्म, ज्ञान एवं भक्ति से नितान्त विलक्षण तथा परम रहस्य के रूप में शास्त्रों में उपदिष्ट हुई है। लगभग सभी वैष्णवाचार्यो का यह मत है कि उपक्रमोपं संहारादि षड्‌लिंगों के माध्यम से उपनिषदों का परम तात्पर्य–प्रपति ही सिद्ध होती है। इस सम्प्रदाय में भगवान विष्णु के अवतार श्रीराम की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की ऐसी अवधारणा है कि–

भगवान श्री सीतानाथ मुमुक्षु सेवक की भक्ति एवं प्रपत्ति से प्रसन्न होकर उन्हें मुक्ति प्रदान करेगें।

यह अवश्य ध्यातव्य हैकि चाहे पराविद्या हो या अपराविद्या दोनों तभी वीर्यवन्तर होती हैं जब साधक पूर्ण संस्कार सम्पन्न हो। संस्कार को परिभाषित करते हुये श्री भाष्यकार जगद्‌गुरू श्री रामानुजाचार्य जी कहते हैं–

"संस्कारो हि नाम कार्यान्तर योग्यता करणम्" ।[1]

इसका अर्थ है संस्कार न केवल उत्पन्न दुरिता का ही नाश करता है, अपितु कार्यान्तर योग्यता का भी सम्पादन करता है।

श्री रामानन्द सम्प्रदाय में पंचसंस्कार भगवत्प्राप्ति के प्रधान साधन माने जाते हैं। वैष्णव सिद्धान्त में यह पक्ष अत्यन्त प्रगाढ़ता से स्वीकृत है कि मनुष्य जब आचार्योपदिष्ट पंचसंस्कारों से संस्कृत होता है, तब वह भगवत्कैङ्कर्य का अधिकारी होता है। अतः प्रत्येक भगवद्रतिलोलुपप्रेमी मुमुक्षुओं के लिये पंचसंस्कार सम्पन्न होना अति आवश्यक है।

श्री रामानन्द सम्प्रदाय में इन पंचसंस्कारों को गुरूपदिष्ट श्री वैष्णवी –दीक्षा के समय सम्प्रदायानुसार शिष्य को प्रदान किये जाते हैं। ये पंचसंस्कार निम्न हैं–

(1) श्री ठाकुर जी के दिव्यायुधों को बाहुमूल पर तप्त या शीतल रूप में धारण करना, (शुद्ध यज्ञाग्नि में वेदमंत्रों से तथा श्री रामतारक मंत्रों से आहुति देकर शुद्ध धातु से बनी हुई धनुर्बाण मुद्राओं को उस अग्नि में संस्कृत कर शिष्य के बाहुमूल पर गुरू द्वारा सविधि अंकित करना शास्त्रों द्वारा भूरिशः आदेशित है। वामबाहु पर धनुष तथा दक्षिणवाहु पर बाण के दो चिन्ह अंकित करने का विधान है।)

(2) ललाट पर उर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करना, (ललाट पर पवित्र तीर्थ स्थलों की मृत्तिका से नित्य उर्ध्वपुण्ड्र लगाना चाहिये। श्री पादुकाकृति तिलक के मध्य में कुमकुम से 'श्री' धारण करना चाहिये।)

(3) भगवत्सम्बन्धी नाम रखना, (भगवद्दासान्त नाम को धारण करना ही नाम संस्कार है। लौकिक नाम को त्यागकर आध्यात्मिक भगवन्नाम को धारण करना मुक्ति का परमोपाय है।)

---

(1) श्री भाष्य रामानुजाचार्य 1/1/1

(4) भगवन्मन्त्र धारण करना (उपनिषदों के परमतात्पर्य श्री राम मंत्र को धारण करना शास्त्रानुमोदित और प्रशंसित मंत्रसंस्कार है।)

(5) भगवत्प्रीत्यर्थ तुलसी जी की युगल माला धारण करना (द्विधाकृति, कण्ठ लग्ना, भगवत्प्रसाद स्वरूपा श्री तुलसीमाला को जो साधक भक्तिपूर्वक धारण करता है, वह सभी पापों से विनिमुक्ति हो भगवल्लोक को प्राप्त होता है।)

वैदिक संस्कृति की मान्य परम्पराओं एवं विशिष्टताओं के कारण ये सम्प्रदाय विशिष्टस्थान रखते हैं। इन सम्प्रदायों के संस्कारों से शिष्यों एवं सम्प्रदाय के अनुयायियों को सहज शिक्षण एवं उच्च संस्कृति प्राप्त हो सकती है मानव के दुर्गुण काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का निराकरण होता है तथा सद्गुणों का अविर्भाव उनको नैतिकता की शिक्षा देते हैं तथा वे समाज में आदर्श बनते है।

ये सम्प्रदाय उच्च संस्कारों के जनक हैं। भिन्न–2 सम्प्रदाय होते हुए भी इनकी शिक्षा–दीक्षा, इन्हें मूल्य उत्कृष्ट है जो व्यक्ति को संस्कारवान बनाते है।

इनके द्वारा हमारी, संस्कृति भी पुष्पित एवं पल्लवित होती रही। वैष्णव सम्प्रदाय का विकास क्रम आचार्यो की दहलीज से होता हुआ मंदिरों, शिवालयों की चौखट पर आ गया।

तृतीय अध्याय

(अ) मंदिरों की पृष्ठभूमि

मानव सदैव से ही जिज्ञासु रहा है। जिज्ञासा ही उसे अनुसंधान करने के लिये प्रेरित करती है। मानव प्रत्येक रहस्य को जानने के लिये हमेशा से ही उत्सुक रहा है। अनुसन्धान कर वह नित्य नये अविष्कार करने के लिये प्रयत्नशील रहा है।

जब मनुष्य का मानसिक विकास हुआ तथा ज्ञान और तर्क की बुद्धि आयी, तब वह अपने आस–पास की प्रत्येक चीजों का गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण करने लगा। वह सोचने और तर्क करने लगा कि आग और तूफानों में किसका क्रोध निहित है? नदी का पानी कौन बहता है? पानी कौन बरसाता है? पेड़–पौधें क्यों उगा करते हैं? पशु–पक्षी किसकी शक्ति से उत्पन्न हुये? इन प्रश्नों के उत्तर में मनुष्य में देवताओं और ईश्वर के अस्तित्व की भावना जागृत हुई और देवलोक की कल्पना उभरी और मन में देवताओं और उनकी शक्ति के प्रति भय का संचार हुआ। मनुष्य ने इन देवताओं को सर्वशक्ति मान, अपराजेय (जिस पर विजय प्राप्त न की जा सके) मानकर उनको प्रसन्न करने के लिये उनकी पूजा और उपासना की विधि सोच निकाली।

विश्व के समस्त देशों के मनुष्यों ने अपनी–अपनी कल्पना के अनुरूप प्रकृति की शक्तियों के लिये अलग–अलग देवी–देवताओं और उनके स्वरूपों की कल्पना की, और उनकी इसी कल्पना के अनुसार उनके धर्म का विकास हुआ। प्रत्येक धर्म के लोगों ने अपनी उपासना पद्धतियों का विकास किया और उसी के अनुसार साधारण निवास से अलग देवताओं के स्थान बनाये और उसी के अनुकरण पर धार्मिक वास्तुओं का विकास हुआ।

प्राचीन भारतीय निवासियों के धर्म का आदिम रूप क्या था, इस बात पर इतिहासकारों में मतभेद है परन्तु उनके प्राचीन एवं विकसित धर्म का ज्ञान हमें वेदों से प्राप्त होता है। वेदों से ही हमें उस समय की धार्मिक व्यवस्था का विस्तृत ज्ञान होता है।

वैदिक ऋचाओं में धार्मिक वास्तु के रूप में यज्ञ–वेदी और यज्ञ–शाला का

उल्लेख मिलता है। उसे ही भारत का आदिम धार्मिक वास्तु मान सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में मनुष्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिये बड़े–बड़े यज्ञो का अनुष्ठान किया करते थे। अतः वैदिक परम्परा में उपासना का स्वरूप यज्ञों का रहा। इनमें मन्दिर जैसे किसी वास्तु के लिये संभवतः कोई स्थान न था। वैदिक साहित्य में यज्ञ–वेदी बनाने का विस्तृत विधान उपलब्ध होता है।

वैदिक काल में यज्ञ वेदी खुले स्थान पर बनायीं जाती थी। इनकों सुरक्षित रखने के लिये कुश या बांस के बने छाजनों का प्रयोग किया जाता था। "शतपथ ब्राह्मण में अग्निद्रव्य (यज्ञशाला) के चारों ओर से चटाई से ढंके होने का उल्लेख मिलता है। वह केवल द्वार के निमित्त पूर्व की ओर खुला रहता था।"[1] तैतरीय संहिता में इस प्रकार की झोपड़ी को गर्भगृह कहा गया है"[2] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के अनुसार यह वेदिका को बाहरी स्थान से अलग करती है। इस प्रकार यह जान पड़ता है कि इन यज्ञ शालाओं का स्वरूप बहुत कुछ आज कल की घास–फूस की बनी झोपड़ियों की तरह ही था। इससे स्पष्ट है कि यज्ञशाला के इस स्वरूप से ही आगे चलकर मंदिर वास्तु का विकास हुआ।

वैदिक कालीन यज्ञशाला

---

(1) शतपथ ब्राह्मण (3/1/22, 3/6/1–2)

(2) तैतरीय संहिता (6/2/55)

वैदिक कालीन वास्तु सम्बन्धी इन अनुमानों के अतिरिक्त छठीं शताब्दी ई0 पू0 तक किसी भी धार्मिक वास्तु का ज्ञान नहीं होता। उस शताब्दी में भारत की पुरातन धार्मिक व्यवस्था को बुद्ध ने एक नवीन रूप दिया। इनके धर्म के स्वरूप ही उनके निर्वाण के पश्चात् 'स्तूप' वास्तु का विकास हुआ, जिसका मूल रूप वैदिक कालीन समाधि थी। तदत्तर चैत्यगृह और बिहार नामक दो अन्य वास्तु–रूपों का विकास हुआ। जिनका सम्बन्ध मुख्य रूप से बौद्ध धर्म से ही था।

स्तूप को पालि भाषा में 'थूभ' कहा गया है। ये मुख्यतः चिता स्थल पर निर्मित टीला होता था, जो प्रारम्भ में मिट्टी का बनाया जाता था। 'स्तूप' की दूसरी संज्ञा इसलिये चैत्य हुई। उस स्थल पर पीपल का पेड़ लगाने की भी परम्परा प्रारम्भ हो गयी। मिट्टी के उक्त टीलों के पास चैत्य थूप बनाया जाता था, जो प्रायः लकड़ी का होता था। कालान्तर में मिट्टी के टीलों को ईटों तथा पत्थरों से आच्छादित किया जाने लगा। भरहुत, सांची आदि स्तूप इसी प्रकार के आच्छादनों के उदाहरण हैं। "स्तूप" शब्द ऋग्वेद में दो बार आया है।"(1) "एक स्थान पर चारों ओर फैलते वृक्ष के आकार से उसकी तुलना की गयी है।"(2)

आरम्भ में स्तूपों में दो प्रकार की धातु (अवशेष) रखी जाती थी– (1) शारीरिक धातु (शरीर के अवशिष्ट अंग) (2) पारिभौगिक (उपयोग में आनें वाली वस्तु) दोनों ही प्रकार के स्तूप कहीं भी स्थापित किये जा सकते थे। स्तूपों में धातु पात्र होने के कारण ये पवित्र माने गये और धीरे–धीरे यह भगवान बुद्ध के प्रतीक समझे जाने लगे। इन स्तूपों के प्रति बौद्ध धर्माम्बलम्बियों की अटूट भक्ति भावना बन गयी। फलतः ऐसे स्तूपों का भी निर्माण किया जाने लगा जिनकी, किसी प्रकार का धातु या अवशेष न होने पर भी, इन्हें भगवान बुद्ध का प्रतीक मानकर पूजा जाने लगा।

---

(1) ऋग्वेद (7, 2, 1) — वैदिक इंडैक्स, जिल्द–2 — पृ0सं0 483

(2) इण्डियन आर्ट — वासुदेव शरण अग्रवाल — पृ0सं0 120

प्रारम्भिक स्तूप अण्ड (गुम्बद) अथवा उल्टे कटोर के आकार के अर्द्धगोलाकार थे। "उनके आधार के चारों ओर एक घेरा होता था जो वेदिका (रेलिंग) कहलाता था। वेदिका और स्तूप के बीच का खाली भाग प्रदक्षिणा–पथ का काम देता। शिखर पर अस्थि पात्र रखने का स्थान होता था जिसके ऊपर राज–छत्र लगा रहता।"[(1)]

बौद्ध स्तूप

कालान्तर में हमारी हिन्दू संस्कृति में मूर्तिकला का भी विकास हो चुका था। इन मूर्तियों को सुरक्षित रखने तथा इनकी पूजा के लिये साधारण निवास से कहीं दूर भवनों में इनको रखा जाने लगा। इन भवनों को 'मंदिर' की संज्ञा दी जाने लगी। मन्दिर निर्माण के उद्भव में धार्मिक कारण प्रधान था। इसके मूल में प्रतिमा पूजन था।

---

(1) भारतीय वास्तुकला — डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त — पृ0सं0 29

मंदिरों में लोग अपने इष्ट या प्रेमी के प्रति एकान्त में श्रद्धा –सुमन चढ़ा सकते थे। अकेले या सामूहिक रूप में प्रार्थना करने के लिये खुले स्थान की अपेक्षा आवेष्टित या परिवृत स्थान अधिक उपयुक्त था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक स्थापत्य के विविध तत्व परिवर्ती भारतीय वास्तु में उपवृहित मिलते हैं। इनमें विषय वस्तु के अतिरिक्त अनेक प्रतीक एवं अलंकरण की विधायें सम्मलित हैं। वैदिक साहित्य में भक्ति या उपासना का जो मूल बीज निहित था उसका पल्लवन परिवर्ती भारतीय साहित्य और कला में मिलता है। आगमों–पुराणों की उपासना पद्धति ने विष्णु, सूर्य, शिव आदि देवों की अर्चना–पूजा को विस्तार दिया। उससे मूर्तियों तथा मंदिरों का बड़े रूप में निर्माण होने लगा। मंदिर धार्मिक वास्तु के मुख्य प्रतीक बन गये।

अतः बौद्ध स्तूपों, चैत्य,बिहारों आदि के साथ–साथ एक अन्य वास्तु का विकास होता गया जो मंदिर नाम से प्रौढ़ होकर चौथी शताब्दी से अब तक अत्यधिक संख्या में सर्वत्र व्याप्त हैं।

(ब) मंदिरों का स्वरूप

मंदिर प्रमुख रूप से धार्मिक वास्तु है जिसे हम भारतीय वास्तु की एक मात्र विभूति कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनमें हमें भारतीय वास्तुकला का सर्वोत्कृष्ट विकास देखने को मिलता है। भारत में इनका विकास किसी धर्म विशेष से नहीं वरन् मनुष्य में आकृति –पूजा की भावना से हुआ है। मनुष्य ने जब देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उनकी मूर्तियां तथा प्रतीक चिन्ह बनाये, उन्हें पूजने के लिये साधारण निवास से दूर पवित्र भवनों में स्थापित किया। ये भवन समय–क्रम के अनुसार विभिन्न रूपों तथा आकारों में विकसित हुये। धार्मिक भावना, कृत्य और विश्वास के साथ इनका अनेक रूपों में विकास हुआ।

इन मंदिरों के आकार–प्रकार हेतु मानव शरीर, पर्वत–शिखर तथा वृक्ष प्रेरणा स्रोत थे। हमारी प्राचीन भारतीय परम्परा में मिलता है कि आध्यात्मिक तथा अधिभौतिक दृष्टि से मंदिरों के मूल रूप में इन्हीं स्रोतों का निरूपण है। सशरीर सगुणतात्मक देवता के लिये मानव रूप से प्रेरणा ग्रहण करना स्वाभाविक था। भारतीय संस्कृति के अनुसार पवित्रता के प्रतिनिधि के रूप में माने जाने वाले कतिपय वृक्षों तथा पर्वत शिखरों को भी मन्दिर निर्माण के प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया गया।

प्राचीन भारतीय इतिहास के मुख्य स्रोत "ऋग्वेद की एक ऋचा में यक्ष–सद्म का उल्लेख है जिसमें वर्णित है कि यज्ञों के लिये, जो कालान्तर में समाज में देवताओं की भांति ही मान्य थे, किसी प्रकार का वास्तु अवश्य ही बनाया जाता था।"[1] उत्तरवर्ती साहित्य रामायण, महाभारत, ब्राह्मणसूत्र आदि में प्रासाद, देवायतन, देवगृह, देवस्थान आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हुये हैं। ये सभी शब्द इस बात के द्योतक है कि देवताओं के निमित्त किसी प्रकार का वास्तु उन दिनों बनता था। परन्तु इनका क्या रूप

(1) भारतीय वास्तुकला डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त पृ0सं0 68

था, इसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। "परवर्ती साहित्य में यक्ष भावन, यक्ष चैत्य और यक्ष आयतन के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनसे उनके निम्नलिखित रूपों की कल्पना उभरती है–

(1) प्रतीक युक्त अथवा प्रतीक हीन पत्थर की पटिया से बना चबूतरा (चत्वर)।

(2) छत्र के नीचे प्रतीक युक्त अथवा प्रतीक हीन पत्थर की पटिया से बना चबूतरा (छत्र–चत्वर)।

(3) बाढ़ से घिरा पत्थर की पटिया का चबूतरा (वाटक)।

(4) स्तम्भयुक्त वास्तु के भीतर पत्थर की पटिया का बना चबूतरा (मण्डप)।

(5) मकान के भीतर की पटिया का चबूतरा (गृह अथवा चैत्य)।"[1]

कालान्तर में मंदिर निर्माण हेतु कई विशेष तथ्यों पर अधिक जोर दिया जाने लगा। जिसमें मंदिर निर्माण करते समय पहला तथ्य यह आता है कि किस प्रकार की भूमि पर मंदिर का निर्माण किया जाये। "गृहसूत्रों में इसे 'भूपरीक्षा' कहा गया है।"[2] इन ग्रंथों तथा बाद के परिवर्ती पौराणिक एवं वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में उल्लेख है कि देवालय के निर्माण के लिये उत्तम स्थान प्रायः समुद्रतट, सरितातट, सुन्दर उपवन तथा पर्वतीय प्रदेश हैं। ये स्थान पवित्र होने के साथ ही साथ मनोहर तथा शान्त वातावरण वाले होते थे। अतः ये स्थान ही देवालय के निर्माण के लिये उपयुक्त होते थे। साधारण स्थान, नगरों तथा ग्रामों में यदि मंदिर बनवाना आवश्यक होता था, तो निर्धारित भूमि को यज्ञादि द्वारा शुद्ध करके तब उस स्थान पर मंदिर–रचना की जाती है।

मंदिर निर्माण करने वाले कारीगरों तथा निर्माण सामग्री का उल्लेख 'काश्यपशिल्प', 'शिल्परन', 'मानसार' आदि वास्तु –शास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है। मन्दिर ईश्वर का निवास स्थान है, इस कारण सामान्य लोगों के साधारण निवास गृहों की अपेक्षा मंदिरों के सौन्दर्य तथा

---

(1) ऋग्वेद (4/3/13)

(2) भारतीय वास्तुकला का इतिहास के0डी0बाजपेयी पृ0सं0 4

दृढ़ता पर विशेष ध्यान देना आवश्यक समझा जाता था। जिससे ये अपनी सौन्दर्यता एवं कलात्मकता के साथ चिरस्थायी रहें। मंदिर निर्माण में दृढ़ पत्थरों, ईटों का प्रयोग वांछनीय समझा जाता था। आर्थिक स्थिति के अनुसार कभी–कभी मंदिरों को सोना, चांदी, तांबे से निर्मित किया जाता था। इसमें अधिकांश छोटे मंदिर हुआ करते थे। बड़े मंदिरों की दीवालो तथा दरवाजों को सोने या चांदी की चद्दरो से मढ़ा जाता था। मध्य काल में उत्तर भारत के प्रसिद्ध मंदिर गुजरात में सोमनाथ आदि के मंदिर तथा दक्षिण के अनेक मंदिर आज भी उदाहरण के रूप में मौजूद हैं। भारत में मंदिर निर्माण का आरम्भ कब हुआ, इस पर इतिहासकारों के अनेक मत–मतान्तर हैं किंतु श्री रामकृष्णदास के शब्दों में "मन्दिर स्थापत्य का विकास स्वतंत्र रूप से और अशोक के पहले ही हुआ जान पड़ता है।"[1] भारत में मंदिर निर्माण का उद्भव, विकास एवं इनके स्वरूप का क्रमबद्ध ज्ञान हमें प्राचीन काल के सिक्कों से ज्ञात होता है। "उत्खनन से प्राप्त पंचाल प्रदेश से जयगुप्त, इन्द्रगुप्त और प्रजापति मित्र के सिक्के प्राप्त हुये हैं, जिन पर एक ऊँचे चबूतरे पर वर्तुलाकार छतवाले कमरे में खड़े दिखाये गये हैं। अण्डाकार छत के ऊपर एक उभरा कलश सरीखा है और छत के दोनों ओर आगे को निकला छज्जा सा है। इसे सहज भाव से मंदिर का आदिम रूप कहा जा सकता है।"[2]

मंदिर के इस आदिम रूप का उल्लेख पंतजलि (ई0 पू0 प्रथम शदी) ने अपने ग्रंथ 'महाभाष्य' में भी किया है। इन सिक्कों में उत्कीर्ण मंदिराकृति से अनुमान लगाया जाता है कि मंदिर के आगे वेदिका का निर्माण इस काल में प्रारम्भ हो गया था। परन्तु इतिहासकारों ने निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा कि इस काल में मन्दिर में किसी प्रकार का घेरा होता था। पंचाल सिक्कों से एक अन्य तथ्य यह स्पष्ट होता है कि वेदिका से घिरे देवतायन, गोल स्वरूप वाले देवालयों से पूर्व के होगें।

---

(1) भारतीय मूर्तिकला — रामकृष्ण दास — पृ0सं0 44

(2) भारतीय वास्तुकला — डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त — पृ0सं0 72

मथुरा तथा इसके आस–पास के क्षेत्रों से उत्खनन में प्राप्त सिक्कों पर ऐसी ही मंदिराकृति उत्कीर्ण है। जिससे स्पष्ट है कि गोल छतों वाला मंदिर स्वरूप पंचाल–सिक्कों तक ही सीमित नहीं था। इन मंदिरों के स्वरूप में थोड़ी सी भिन्नता थी। मंदिर की गोलछत पर तीन कलश एक पंक्ति में थे जबकि पंचाल सिक्कों में छत पर केवल एक कलश उत्कीर्ण है।

भारत के दक्षिणी भाग के बोदिनायक तुरू नामक स्थान से प्राप्त मौर्योत्तर कालीन चांदी की आहत मुद्राओं पर स्तम्भ से बने वर्तुलाकार छतवाला मंदिर अंकित है। इतिहासकारों ने इसे दुतल्ला वास्तु कहा है। इस मंदिर के नीचे का तल सपाट है और दो स्तम्भों पर टिका है। इसके ऊपर के तल की छत वर्तुलाकार है और उस पर एक छोटा सा शिखर बना है। इस प्रकार के मंदिर उत्तर भारत के हिमाचल प्रदेश के 'पौख' जनपद से प्राप्त सिक्कों पर देखने को मिलता है। इन सिक्कों पर उत्कीर्ण मंदिर की वर्तुलाकार छत के चारों कोनों में चार स्तम्भ हैं, और बीच में एक पांचवें स्तम्भ का टेक दिया हुआ है।

स्तम्भ युक्त मंदिर का अधिक विकसित एवं सुडौल रूप औदुम्बरों के सिक्कों पर देखने को मिलता है। इन सिक्कों पर उत्कीर्ण इन वास्तु रूपों के निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। इनमें से कुछ विद्वानों का मत है कि यह मंदिर (वास्तु) एक ऊँचे अलंकृत चबूतरे पर स्तम्भों से बना चौकोर मण्डप है। इसके चारों कोनों में स्तम्भ सहित चार–चार स्तम्भ हैं। स्तम्भों के ऊपर अण्डाकार छत है। इस छत के ऊपर स्तम्भों पर टिके एक के ऊपर एक, दो छत और हैं। इन सब के ऊपर अन्त में घट युक्त शिखर बना हैं इस वास्तु स्वरूप में परिवर्ती कालीन मन्दिरों के विकास का स्पष्ट रूप परिलक्षित होता है।

प्राचीन मुद्राओं पर अंकित इन मंदिर की आकृति के अतिरिक्त "गुप्तकालीन अभिलेखों में मंदिरों की जिस प्रकार की चर्चा हुई है उनसे लगता है कि इस काल में

मंदिर बड़ी संख्या में बने होंगे और वे अपने रूप में काफी विकसित रहे होंगे। किन्तु गुप्तकालीन कहे और समझे जाने वाले जो थोड़े से मंदिरों के अवशेष सामने आये हैं, वे वास्तुकला की दृष्टि से मंदिरों का अत्यन्त शैशविक रूप प्रकट करते है।"[1]

तत्कालीन समय में कलात्मक रूचि में अभिवृद्धि के साथ–साथ मंदिर वास्तु का स्वरूप भी और अधिक विकसित होता गया। गर्भगृह जहां मूर्ति की स्थापना होती थी, को परिवेष्टित करने के अतिरिक्त इसके बाहर चारों ओर प्रदक्षिणा–पथ का निर्माण शुरू हो गया। गर्भगृह के बाहर आच्छादित मुख–मण्डप का निर्माण होने लगा था। इस काल में मंदिर –वास्तु के शास्त्रों का निर्माण हो गया था। अब इन्ही शास्त्र के अनुसार मंदिर के विभिन्न अंग–उपांग निर्मित किये जाने लगे। काल क्रमानुसार मंदिर के गर्भगृह के ऊपर कलात्मक शिखर एवं सामने मण्डप, अर्द्धमण्डप आदि का विधान प्रचलित हो गया था।

मंदिर वास्तु को शास्त्र के आधार पर अत्यन्त विकसित रूप प्रदान किया गया।

गुप्तकाल के पश्चात् मंदिर स्थापत्य के क्षेत्र में और भी अधिक विकास हुआ। कालान्तर में मंदिर निर्माण के कतिपय मुख्य लक्षणों का विकास हुआ, जो समस्त भारत में कम–ज्यादा विभेदों के साथ दृष्टव्य है। इस समय मंदिर की उपमा भारतीय वास्तुशास्त्र में मानव शरीर से दी जाने लगी। "भूमितल से लेकर ऊपर के शिखर तक मंदिर के जिन मुख्य अंगों के वर्णन शास्त्रों में मिलते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैः–

(1) अधिष्ठान यौ चौकी – इस पर सज्जा पट्टी अलंकरण रूप में रहती थी। उसे 'वसंत पट्टिका' कहा जाता था।

(2) वेदिवंध–यह अधिष्ठान के ठीक ऊपर का गोल या चौकोर अंग है। यह प्राचीन यज्ञ–वेदियों से उद्भूत हुआ।

(3) अन्तर पत्र–वेदिवंध के ऊपर की कल्पबल्ली या पत्रावली पट्टिका।

---

(1) भारतीय वास्तुकला डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त पृ0सं0 74

(4) जंघा – मंदिर का मध्यवर्ती धारण स्थल।

(5) वरंडिका– मंदिर का ऊपरी बरामदा।

(6) शुकनासिका– मंदिर के ऊपर का वहिर्निसृत भाग। उसका आकार तोते की नाक की तरह होने के कारण उसका यह नाम पड़ा।

(7) कंठ या ग्रीवा– शिखर के ठीक नीचे का भाग।

(8) शिखर–शीर्ष स्थल।

शिखर पर खरबुजिया आमलक होता था। धीरे–धीरे गोल आमलक ने लम्बोतरा रूप ग्रहण किया और अन्त में उसी का शिखर रूप बना।''[1]

मंदिर वास्तु के ये आठ अंग अब देशव्यापी बन गये। मंदिरों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनके तोरण पर गंगा–यमुना, घटपल्लव, हंस, कीर्तिमुख, गन्धर्व–मिथुन, अथवा गन्धर्व–दम्पत्ति की मूर्तियां या इनका अलंकरण उत्कीर्ण होना चाहिये। मंदिर के सम्पर्ण द्वार को कई शाखाओं में विभक्त करने की परम्परा मध्यकालीन स्थापत्य में रूढ़ हो गई। तत्कालीन साहित्यों में 'पंच' तथा 'सप्तशाखा द्वार' के उल्लेख मिलते हैं। इन द्वारों को सप्त उत्तरंग कहा जाता था। इन द्वारों के नाम मिथुनशाखा, रूपशाखा, व्यालशाखा, नागशाखा आदि मिलते हैं। इन विभिन्न द्वारों पर मनोरम अलंकरण बनाये जाते थे। कलाकार इन शाखाओं पर मुख्य देव प्रतिमा के अतिरिक्त सप्तमातृका, नवग्रह, नर–नारी, यक्ष, गन्धर्व, सुपर्ण, किन्नर, नाग आदि के रोचक अलंकरण किये जाते थे। इनके अतिरिक्त अलंकरणों के रूप में वृक्ष, लताओं तथा पशु–पक्षियों की मूर्तियों की सज्जापट्टियां विकसित हुईं।

इस समय मंदिर के समस्त भागों को अनेक प्रकार से अलंकृत करने का अधिक प्रचलन शुरू हो गया था। मंदिर के अन्दर की दीवालों पर कलाकार कमलदल, पूर्णघट एवं अनेक प्रकार की कलाकृतियों को बनाते थे। ये अलंकरण लौकिक तथा

---

(1) भारतीय वास्तुकला का इतिहास   कृष्णदत्त बाजपेयी   पृ०सं० 126–27

धार्मिक दोनों प्रकार के होते थे। नदी देवियों को पवित्रता के प्रतिनिध के रूप में देवालयों आदि के द्वारों पर अंकित किया जाता था। प्राचीन काल की प्रतीक पूजा की परम्परा को कलाकारों ने मूर्त रूप देकर चिरस्थायी एवं अमर बनाया। लौकिक और पारलौकिक आदि मनोरम कल्पनायें मंदिरों में साकार हुई।

तत्कालीन समय से लेकर मुगलकाल तक भारत के विभिन्न स्थानों में विविध धर्मो से सम्बन्धित मन्दिरों की रचना हुई। समय तथा स्थान के आधार पर इन मंदिरों की शैलियों में भेद–प्रभेद होना स्वाभाविक था। इन शैलियों का वर्णन इस प्रकार है:–

लयण मन्दिर–

इतिहासकारों के अनुसार इस शैली के मन्दिरों का निर्माण गुप्त काल में ही हुआ था। ये मन्दिर प्रस्तरविद्ध लयणों के रूप में बनाये जाते थे। ये लयण जो अब तक ज्ञात हुये हैं, वे विदिशा के निकट, बेसनगर से लगभग 3 कि0मी0 दूर, दक्षिण–पश्चिम, सांची के पास स्थिति उदयगिरि नामक पर्वत माला में पाये गये हैं। इन लयणों की संख्या दस से बारह बतलाई जाती है। इन लयणों में दो मे गुप्तकालीन शासक चन्द्रगुप्त के काल का अभिलेख है। इस श्रृंखला में जो लयण मन्दिर बनाये गये हैं ये अन्य मंदिरों से सर्वथा भिन्न हैं। इन मंदिरों का निर्माण समूचे पहाड़ को काटकर नहीं वरन् पहाड़ को खोखला करके उसमें मात्र गर्भगृह बनाया जाता था, तथा मंदिर के द्वार को छोटे–छोटे पत्थर के टुकड़ों की सहायता से चिनकर बनाया जाता था। इस शैली के मन्दिरों से यह सहज ही अनुमान लगता है कि प्राचीन काल में ऋषि–मुनि अपना चातुर्मास जिन कन्दराओं गुफाओं में व्यतीत किया करते थे, उनका स्वरूप भी इन मंदिरों के जैसा ही होगा।

कालान्तर में मंदिर के निर्माण कला के विकास के साथ–साथ इस शैली का भी विकास होता गया, अब पहाड़ को खोखला करके उसमें गर्भगृह के साथ–साथ

मण्डप, महामण्डप आदि का भी निर्माण शुरू हो गया था।

इन लयण मन्दिरों का विकास दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों में देखने को मिलता है। पूर्वी तट पर इन लयणों का निर्माण सातवीं शती के प्रथम चरण में पल्लव नरेश प्रथम महेन्द्रवर्मन (570–630 ई0) के समय से आरम्भ हुआ।

चिने हुऐ मन्दिरः–

लवण शैली के मन्दिरों के बाद चिनाई द्वारा मंदिरों के निर्माण की नवीन शैली का प्रारम्भ हुआ। इस शैली ने वास्तुकारों को अपनी कला के विकास के लिये अनेक दिशायें प्रस्तुत कर दी थीं। इस शैली के अन्तर्गत अब पत्थर को खोखला कर मात्र मण्डप बनाने की अपेक्षा चिने हुए वास्तु –मंदिरों के अनुकरण पर मूर्ति निर्माण शैली में पर्वतों को ऊपर तथा भीतर दोनों दिशाओं से काट एवं गढ़कर वास्तु को मूर्त रूप देने लगे।

इस नवीन शैली का प्रारम्भ पल्लव नरेश मामल्ल ने मामल्लपुरम् में रथों का निर्माण कराकर किया। इस शैली के मन्दिर, मध्यप्रदेश (तिगवां) का शिव मन्दिर, राजस्थान (कोटा) सांची, उदयपुर, एरण आदि स्थानों में वर्तमान में भी मौजूद हैं।

शिखर शैली के मन्दिर–

मंदिर निर्माण शैली के इस विकास क्रम में गुप्तोत्तर काल के बाद मंदिर के एक नये रूप का विकास हुआ। इस शैली को शिखर शैली कहा गया। इन मंदिरों की छत, जो पहले अण्डाकार थी, अब ऊपर की ओर उठते हुये शिखर का रूप धारण करने लगी थीं। इन मन्दिरों के विकास क्रम के सम्बन्ध में एक विद्वान मेकडोनाल्ड ने कहा है कि इनका विकास स्तूप से हुआ है।

प्राचीन शिल्पशास्त्रों में शिखर शैली के मन्दिरों में नागर, बेसर, तथा द्रविड़ नामक तीन भेद किये हैं। मानसार और श्री कुमार, इन भेदों का आधार स्वरूप संयोजन मानते हैं।

अन्य शिल्प शास्त्रों में इन शैलियों को क्षेत्रज बताया गया है इसका समर्थन

द्रविड़ नाम से ज्ञात होता है। इनके नामके अनुरूप ही द्रविड़ शैली का प्रदेश कृष्णा और कन्याकुमारी के बीच, नागर शैली को हिमलाय और विन्ध्य क्षेत्र के बीच के स्थानों को बताया गया है, किन्तु बेसर शैली का तात्पर्य किसी भी सूत्र से स्पष्ट नहीं हो पाता है। कुछ विद्वानों ने बेसर शैली को इन दोनों शैलियों के मिश्रित रूप को कहा है। इस शैली के मन्दिर अधिकांशतः कर्नाटक में हैं।

कालान्तर में भारत की राजनैतिक दशा बिगड़ी हुयी थी। हर्ष के शासन काल के उपरान्त समस्त भारत में कई छोटे–छोटे राजवंशों का उदय हो गया था। इन राजवंशों ने अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य के अनुसार अपना प्रदर्शन किया और अनेकानेक मंदिरों का निर्माण करवाया। मंदिर निर्माण की इन शैलियों के अतिरिक्त मंदिरों में उस क्षेत्र विशेष की झलक मिलती है, और इसी कारण ये शैली उन राजवंशों के नाम से प्रचलित हुई।

इस युग में मंदिर वास्तु की विविध–शाखायें पल्लवित एवं पुष्पित हुई। इनका वर्गीकरण, विभिन्न राजवंशों के सन्दर्भ में, इस प्रकार किया गया है–

1–महाकोसल शैली	(छठी से आठवीं शती)	पाण्डुवंशी शासन
2–मगध वंश शैली	(छठी शती से उत्तरार्द्ध से आठवीं शती)	उत्तर गुप्त वंश तथा पालों का आरम्भिक शासन
3–प्रारम्भिक कलिंग शैली	(छठी शती के उत्तरार्द्ध से 900 ई0 तक)	शैलोद्भव तथा भौमकर शासन
4–अन्तर्वेदी शैली	(छठी शती के उत्तरार्द्ध से 900 ई0 तक)	कन्नौज का पुष्यभूति तथा गुर्जर प्रतिहार
5–प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली	(9 वीं से 10वीं शती)	कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार

6—जेजाक भुक्ति—त्रिपुरी शैली	(9 वीं से 11वीं शती)	जेजाक भुक्ति के चंदेल तथा त्रिपुरी के कलचुरि
7—हिमांचल शैली	(8वीं के मध्य से 10 वीं शती तक)	राजपुरी, त्रिगर्त, चंपा आदि के शासक
8—महामारू शैली	(8 वीं से 10वीं शती के प्रारम्भ तक)	गुहिल, जालौर, और मंडोर के प्रतिहार तथा शाकम्भरी के चाहमान
9—कर्णाट शैली (उत्तर भारतीय)	(छठी शती के उत्तरार्द्ध से 8वीं शती तक)	बादामी के पश्चिमी चालुक्य तथा बेंगी के पूर्वी चालुल्य
10—सौराष्ट्र शैली	(छठीं शती के अन्त से 10 वीं शती तक)	बलभी के मैत्रकतथा घुमली के सैंधव।''[1]
11—''महागुर्जर शैली	(8वीं शती के मध्य से नवीं शती तक)	उत्तर गुजरात के राजवंश चापवंश तथा कच्छ के शासक
12—काश्मीर शैली	(8वीं से 9वीं शती)	कार्कोट तथा उत्कल वंश
13—परिवर्ती कलिंग शैली	(900—1300 ई0)	सोमवंश तथा गंगवंश
14—परिवर्ती मगध वंश शैली	(1000—1245 ई0)	पाल तथा सेन वंश

(1) रिर्पोट— यह शैली विभाजन अमेरिजन आकदमी, वाराणसी द्वारा लिया गया है।

15—परिवर्ती अन्तर्वेदीय शैली	(900 —1250 ई0)	कन्नौज के परिवर्ती प्रतीहार एवं गहड़वाल वंश
16—परिवर्ती गोपाद्रि शैली	(950—1150 ई0)	ग्वालियर तथा नरवर के कच्छपघात
17—परिवर्ती महामारू शैली	(950—1000ई0)	शाकम्भरी तथा नाडोल के चाहमान
18—परिवर्ती महागुर्जर शैली	(950—1000ई0)	चन्द्रावली के परमार, बधवान के चाप, कच्छ के मकुआणा, मेडपाट के गुहिल. तथा अनहिल वाड़—पाटण के सोलंकी
19—मारू गुर्जर शैली	(11वीं से 12 वीं शतीं)	अनहिलवाड़—पाटण के सोलंकी तथा उनके समसामयिक शासक, मेडपात के गुहिल
20—कलचुरि शैली	(900—1220 ई0)	त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरि
21—परवर्ती जेजाकभुक्ति शैली	(950—1300ई0)	कालिंजर तथा खजुराहो के चंदेल

22—कामरूप शैली	(10वीं शती के उत्तरार्ध से 1227 ई0 तक)	असम के चन्द्रवंशी
23—मालवा शैली	(1000—1300 ई0)	धारा तथा भोजपुर के परमार
24—सिन्धु सौवीर शैली	(10वीं से 11वीं शती)	उत्तरी सिंध तथा पश्चिमी पंजाब"[1]

मंदिर निर्माण की उक्त शैलियों से स्पष्ट है कि पूर्व—मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों में मंदिर निर्माण की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। प्रत्येक शैली में उस क्षेत्र विशेष की लोकोत्व की झलक स्पष्टतः दिखलायी पड़ती है। और यही प्रभाव मंदिरों के आकर्षण को अत्यधिक बढ़ा देता है।

मंदिर प्रायः धार्मिक वास्तु हैं इसीलिये समाज को संचालित तथा अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुये हैं। इस कालान्तर में मंदिर संस्कृति के केन्द्र थे। राजा सहित सभी राज्य निवासी गणों का मंदिरों के प्रति गहरा विश्वास था। समाज तथा राज्य के अति विशेष निर्णयों का सम्पादन स्थल मंदिर ही था।

---

(1) भारतीय वास्तुकला का इतिहास के0डी0 बाजपेयी पृ0सं0 122—23

(स) मंदिरों की संस्कृति

युगों युगों से भारत सम्पूर्ण विश्व में अपने प्राचीन मंदिरों एवं संस्कृति के लिये विश्व प्रसिद्ध रहा है। भारत में निर्मित मंदिर यहां की सांस्कृतिक विरासत हैं, जो दृश्य एवं अदृश्य दोनों रूपों में भारतीय संस्कृति को दर्शाते हैं। दूसरे रूप में हम इन मंदिरों को भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि कह सकते हैं।

मंदिरों की संस्कृति के अध्ययन से पहले हमें 'संस्कृति' शब्द पर विचार करना चाहिये कि संस्कृति क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? आदि।

संस्कृति शब्द प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में कहीं व्यवहार में नहीं आया है। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' के स्थान पर 'संस्कृति' शब्द की नवीन कल्पना की गई है। प्राचीन साहित्य के कल्चर शब्द के अर्थ में आचार–विचार शब्द का प्रयोग है, अर्थात अंग्रेजी भाषा का कल्चर शब्द जितने अर्थ को अन्तर्गर्भित कर प्रयुक्त होता है उतने अर्थ के प्रतिपादन के लिये प्राचीन भारतीय आचार–विचार शब्द का प्रयोग किया करते थे। आज की भाषा में उस अर्थ के लिये 'संस्कृति' शब्द व्यवहार में आने लगा है।

संस्कृति शब्द में 'कृ' धातु है वह क्रिया के अर्थ में है। क्रिया गतिशील होती है, सम उपसर्ग कृ धातु 'ति' प्रत्यय से संस्कृति शब्द बना है। संस्कृति के स्वरूप पर एक विद्वान का मत है कि "संस्कृति का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में मतैक्य मिलना कठिन होता है। यदि कहीं भारत में और भारतीय समाज में इस विषय पर विचार हो रहा हो तो मत वैषम्य का ठिकाना नहीं रहता। इस प्रश्न का उत्तर केवल बुद्धि के सहाने नहीं दिया जा सकता, भावना भी काम करती है, धर्म और राजनीति विषयक मान्यतायें बीच में आ पड़ती हैं और ठण्डा वातावरण आवेश में गरमा उठता है। शब्द नये होने से और अड़चन पड़ती है, व्याकरण की व्युत्पत्ति चाहे सैकड़ों वर्ष पूर्व हो परन्तु पश्चिम के कल्चर ने ही (जिसका अर्थ स्वयं विवादों से परे नहीं) संस्कृति को व्यवहार

में स्थान दिलाया।"[1]

संस्कृति शब्द का आशय इस प्रकार है –संस्कृति का अर्थ सम्यक कृति है और संभूय कृति भी है अर्थात् मनुष्य व्यक्तिशः सम्यक कृति करता रहे और संघशः संभूय कृति भी करता रहे। उस समय सम्यक् कृति मानव को अतिमानव बनाने में समर्थ होती है। मनुष्य के दो जीवन है, एक वैयक्तिक जीवन दूसरा सामाजिक जीवन। इन दोनों प्रकार के जीवनों में मनुष्य को सम्यक् कृति करना चाहिये। जिससे उसकी संस्कार सम्पन्नता बढ़ती है जो उसको जीव से शिव बना देती है। मानवीय संस्कृति का यही ध्येय है। इसमें सम्पूर्ण मानवीय शक्तियों की संस्कार सम्पन्नता अभीष्ट है।

"निर्वाचन की दृष्टि से संस्कृति और कृष्टि शब्द समानार्थक हैं, संस्कृति शब्द अधिक व्यापकार्थ है"[2] और विशुद्धि का द्योतक है। कृष्टि का उद्देश्य भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिशुद्ध करना ही है।

जिस प्रकार शुद्ध हुई भूमि में जल सिंचन किया जाता है और खाद डाली जाती है, जिससे भूमि इस योग्य हो सके कि बीज अच्छी तरह उग सके। इसी प्रकार मनुष्य की मानसिक और वास्तविक अवस्थायें भी विकसित होती हैं "जैसे प्रत्येक क्षेत्र को कृषि योग्य बनाने में समस्त प्रक्रियायें आवश्यक नही वैसे ही प्रत्येक परिवार के बच्चों को भी कतिपय सहज संस्कारों के कारण सभी प्रारम्भिक संस्कार आवश्यक नहीं। संस्कृति का मुख्य उद्देश्य विभिन्न संस्कारों द्वारा बच्चों की प्रतिभा और योगयता का पूर्ण विकास इसकी सहज अभिव्यक्ति वैयक्तिक व सामाजिक कर्तव्यता एवं कृतज्ञता के पालन के रूप होती है।"[3]

संस्कृति का अर्थ है परिमार्जित करना, शुद्ध करना, परावर्तित करना तथा

---

(1) सम्मेलन पत्रिका डॉ0 सम्पूर्णानन्द "भारतीय संस्कृति का प्राण" पृ0सं0 25

(2) 'सम्मेलन पत्रिका' वैदिक संस्कृति के मूल तत्व श्रीपाद दामोदर सात बलेकर पृ045

(3) सम्मेलन पत्रिका' संस्कृति और सभ्यता डॉ0 प्रसन्न कुमार आचार्य पृ0 29

समय एवं स्थिति सापेक्ष लाभ हेतु बदलना। जो उचित है, उसे संभालना और जो जीर्ण हो गया है उसे त्यागना भी आवश्यक है "संस्कृति प्रवाह है, प्रवाह में जल शुद्ध होता है। स्थिर जल गंदा हो जाता है, इसे उपयोग में लाने के लिये या तो उष्ण करना होगा या निर्जतुक बनाने के लिये दवा डालनी पड़ेगी या और क्रिया करनी पड़ेगी।"[1]

हम इस आधार पर मान सकते हैं कि संस्कृति मानव-जीवन के विचारों का शुद्धिकरण है। जिससे मानव जीवन के आचार-विचारों का संशुद्धीकरण अथवा परिमार्जन होता है। यह मानव-समाज की सजी-संवरी हुयी अन्तः स्थिति है जिससे मानव-जीवन में गति, रूचि तथा प्रवृत्ति का संचार होता है।

संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानव समूह के उन उदान्त गुणों को सूचित करती है, जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं, जिन पर उनके जीवन पर अधिक जोर दिया जाता है।

संस्कृति को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करके उसके स्वरूप का समझाने का प्रयास किया है।

"संस्कृति सीखे हुये व्यवहार की वह समग्रता है जिसमें कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है। संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिससे ज्ञान, विश्वास, कला, कानून प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[2]

रावर्ट वस्टेड ने संस्कृति को सामाजिक आचार-विचार मानते हुये लिखा है कि "संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है, जिसमें वे सभी वस्तुयें सम्मिलित हैं जिन पर

---

(1) लोक संस्कृति आयाम एवं परिप्रेक्ष्य 'भाऊसमर्थ परिचर्या' पृ0सं0 148, 149

(2) The socal orders Toyler P.106

हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं, और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते है।''(1)

"संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणि शास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।''(2)

"संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्य मूलक क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है।''(3)

उपरोक्त परिभाषाओं में आचार–विचार को ही संस्कृति का मुख्य प्रतिपाद्य माना गया है। संस्कृति को हम किसी विशेष धर्म या मजहब से नहीं जोड़ सकते हैं, अपितु इसे लोकाचार से जोड़ना तर्क संगत और न्याय संगत होगा।

अधिकांशतः हम किसी क्षेत्र की संस्कृति व अनुमान वहां की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्रियायें तथा परम्परानुमोदित दीर्घकालीन जीवनागत व्यवस्थायों को देखकर लगाते हैं। सामाजिक तथा धार्मिक क्रियाओं के अन्तर्गत रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, व्रत–त्यौहार, संस्कार–उत्सव, आदि परम्परागत क्रियायें आती हैं। आर्थिक तथा राजनैतिक क्रियायों के अन्तर्गत जीविका के साधन तथा शासन व्यवस्था जन्य कार्यों की गणना होती है। अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृति का अर्थ विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के समुच्चय से है।

समस्त भारत वर्ष अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिये प्रसिद्ध है। यहां के सांस्कृतिक परिवेश का विस्तृत विवरण लोक जीवन के विविध आयामों में दिखता है। भारत की संस्कृति के विषय में एक विद्वान ने लिखा है कि मूर्तियों से यहां की संस्कृति

---

(1) The Socal Orders — *Rovert Beirstedt* — *P.106*

(2) समाजशास्त्र के मूल तत्व — *पिडिगटन* — *पृ0 194*

(3) समाजशास्त्र के मूल तत्व — *मैलिनोवस्की* — *पृ0 194*

टपकती है, लोकगीतों से सजती–संवरती है तथा लोक–कलाओं में रचती–बसती है। संस्कृति के मूल आधार यहां के रहन–सहन, रीति–रिवाज, तीज–त्यौहार व्रत–पूजन और शिल्प कला,, स्थापत्य कला तथा ललित कला आदि के दिव्यदर्शन आपको इस आधुनिक युग में भी भारत के प्रत्येक ग्राम में अवलोकन करने में मिलेगा।

संस्कृति के मूल आधार स्थापत्य एवं शिल्पकला के प्रतिनिधि यहां के मन्दिर भारत की संस्कृति के अनुपम उदाहरण है। भारतीय संस्कृति और मन्दिरों की संस्कृति दोनों एक दूसरे में इस तरह विलीन है जैसे दूध और पानी। जिस प्रकार दूध से पानी अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार भारतीय संस्कृति से मन्दिर अलग नहीं किये जा सकते।

भारत के लोक–जीवन से जिस प्रकार यहां की संस्कृति के दिव्यदर्शन होते हैं, उसी प्रकार यदि हम मंदिरों का अवलोकन करे तो उसी संस्कृति के दिव्यदर्शन होते हैं। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो भारतीय संस्कृति एवं मन्दिरों की संस्कृति एक है।

हमारे "मानव समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियां पायी जाती हैं। एक को हम केन्द्रोमुखी (सेन्ट्रीपेटल) प्रवृत्ति कहते हैं और दूसरे को वृन्तोन्मुखी।"[1] यदि हम इन प्रवृत्तियों का अध्ययन वृत्त के रूप में करें तो इस वृत्त के केन्द्र विन्दु मंदिर तथा परिधि भारतीय संस्कृति को मानते हैं। इनमें पहली परिधि या वृत्त से केन्द्र बिन्दु की ओर जाती है, वह कहीं भी रहे, केन्द्र के साथ बंधी है। केन्द्र में ध्यानस्थ है। दूसरी वह जो केन्द्र से परिधि की ओर जाती है। भारतीय संस्कृति अपने मूल रूप में केन्द्रोन्मुखी रही है।

अर्थात भारतीय संस्कृति का मूल आधार मंदिर ही है। मानव समाज की भांति मंदिरों में भी पूजा–अर्चना, भजन, रीति–रिवाजों से इनकी संस्कृति परिलक्षित होती

---

(1) कल्याण "हिन्दू संस्कृति अंक" पृ0सं0 106

है। यदि हम दक्षिण भारतीय मंदिरों को देखें तो स्पष्ट होता है कि जो वहां के समाज की संस्कृति है, वही मन्दिर की भी संस्कृति है। क्योंकि यहां के मन्दिर की वाह्य दीवाल के अन्दर पूरा नगर या गांव बसा होता था, और वहां प्रतिपादित प्रत्येक कृत्य मंदिर संस्कृति से जुड़ा हुआ होता है।

यहां की संस्कृति से जुड़ी देवदासी प्रथा पूरे भारत वर्ष में प्रसिद्ध थी। इन मंदिरों में अविवाहित कन्यायें अपना समस्त जीवन व्यतीत करती थीं। ये कन्यायें सिर्फ मंदिर में ही रहती थीं और भगवान की पूजा–अर्चना तथा मंदिर की देखभाल करती थीं। ये मंदिर को छोड़कर कहीं भी नहीं जा सकती थीं और न ही कभी विवाह कर सकती थीं। मंदिर की सफाई एवं सज्जा तथा भगवान की पूजा–अर्चना हेतु जो साम्रगी उपयोगी होती थी वह समस्त सामग्री मंदिर के अन्दर ही उपलब्ध हुआ करती थी। उपाख्यानों से यह स्पष्ट होता है कि मंदिर में सुन्दर–सुन्दर बाग बागीचे लगवाये जाते थे। इन फूलों का उपयोग मंदिर पूजा हेतु तथा बाजार में बेचने हेतु किया जाता था। इनसे जो धनराशि प्राप्त होती थी उसका उपयोग उसी मंदिर निर्माण हेतु किया जाता था।

ये प्रथा कवेल दक्षिण भारत में ही प्रचलित थी। उत्तर भारत में इस प्रथा का सर्वथा अभाव माना जाता है। वर्तमान समय में भी दक्षिण भारत मंदिर तथा यहां से जुड़ी संस्कृति के लिये प्रसिद्ध है। आज भी यहां पुरातन वैदिक संस्कृति के दर्शन होते है।

उत्तर भारत में निर्मित प्राचीन कालीन मंदिर प्रमुख रूप से राजनैतिक तथा धार्मिक संस्कृति के केन्द्र थे। तत्कालीन समय में राजा की विशेष सभा तथा योजनाओं की रूपरेखा मंदिरों में तैयार की जाती थीं।

"मध्यकाल में इन मंदिरों का महत्व बहुत बढ़ गया। वे धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षिक विकास के केन्द्र बने। इस विचार धारा को मंदिरों के माध्यम से व्यवहारिक रूप प्रदान किया गया कि राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति हेतु देवालय सर्वाधिक उपयुक्त हैं।

मंदिरों में विद्यालय, संगीत तथा नाद्यशाला स्थापित हुई। इनके साथ उद्यान तथा छोटी–बड़ी पुष्करणियां बनने लगीं।''[1]

मध्यकाल में मंदिर संस्कृति अपनी चरमोत्कर्ष पर थी। इस समय में मंदिर उस स्थन तथा राजा की शक्ति, सुशासन तथा वैभव के प्रतीक माने जाते थे। मंदिरों में विद्यालय हुआ करते थे, तथा इनके पुरोहितों द्वारा अध्यापन का कार्य सम्पन्न होता था। तत्कालीन समय में विद्या के अतिरिक्त राजनीति, युद्ध कला तथा संगीत की शिक्षा मंदिरों में दी जाती थी।

मंदिरों में स्थापित नाद्यशाला से यह अनुमान लगाया जाता है कि यहां पर भगवान की पूजा के समय तथा किसी विशेष परिस्थिति (अचानक सभा का आमंत्रण) में ये बजाये जाते थे। इन नाद्यशालायों में बड़े–बड़े ध्वनि उत्प्रेरक वाद्ययंत्र हुआ करते थे। इनके अतिरिक्त मंदिरों में संगीत की भी विधिवत शिक्षा दी जाती थी।

मंदिर भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के दर्पण है अनेकानेक सम्प्रदायों के मंदिर धर्म के प्राण स्वरूप हैं। भारतीय संस्कृति धार्मिक संस्कृति हैं जिसमें भारत में प्रचिलित सम्प्रदाओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

---

(1) भारतीय वास्तुकला का इतिहास   के0डी0 बाजपेयी   पृ0सं0 124

चतुर्थ अध्याय

(अ) वैष्णव मन्दिरों की पृष्ठभूमि

भारत का यह भूखण्ड प्रारम्भ से ही धर्म की नगरी रहा है, जिसके उदाहरण यहां पर निर्मित अनेक मंदिर हैं। वैज्ञानिक शोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि विश्व का सबसे पुरातन भूखण्ड बुन्देलखण्ड ही है। इसी भू खण्ड से ही सर्वप्रथम धर्म की उत्पत्ति एवं विकास हुआ। हमारा पुरातन धर्म ब्राह्मण है।

ब्राह्मण धर्म में सभी देवी–देवताओं की पूजा की जाती है और साथ ही प्रत्येक धर्म के प्रति सम्मान एवं विश्वास निहित रहता है। परन्तु बुन्देलखण्ड में समस्त धर्मो में वैष्णव धर्म बहुतायत में देखने को मिलता है। यहां के अधिकांश घरों में भगवान विष्णु की ही आरती के स्वर गुंजायमान होते है क्योंकि हमारे धर्म में तैंतीस करोड़ देवी–देवता माने गये हैं और उनमें से लगभग एक सौ की तो पूजा, अर्चना, आराधना और उपासना बड़े पैमाने पर की जाती है। ''इन सभी देवी–देवताओं के राजा तो देवराज इन्द्र हैं, परन्तु इनके वास्तविक नियन्ता, पालक और संचालक भगवान विष्णु ही हैं। ये सभी देवी देवता भगवान विष्णु की सेवा में तत्पर रहते हुये अपने निर्धारित कर्म करते रहते हैं।''[1] इनमें से किसी भी देवी–देवता की पूजा–अर्चना, आराधना–उपासना करने पर भी मानव को मनवांछित फलों की प्राप्ति हो जाती है। कारण स्पष्ट है ये सभी देवी–देवता स्वयं भगवान विष्णु तथा उनकी शक्तियों द्वारा उत्पन्न हैं परमपिता परमात्मा के चिरन्तन रूप विष्णु और उनके अवतारों के सेवक हैं, हरि के साथ रहते हैं अतः इनके सेवकों और उपासकों को भी भगवान विष्णु अपना दसानुदास मानकर उन पर विशेष कृपा दृष्टि बनाये रखते हैं। यही कारण है कि विविध देवी–देवताओं की पूजा आराधना, वेदों और पुराणों का अध्ययन मनन और धर्म की विविध धारायों का अनुगमन विष्णु उपासना

---

(1) विष्णु उपासना राकृष्णदास 'रसिक' पृ०सं० 13

में बाधक नहीं साधक ही सिद्ध होता है।

ये सभी देवी–देवता छोटी–बड़ी नदियों तथा झरनों के रूप में महासागर रूपी भगवान विष्णु से उत्पन्न होते हैं तथा अन्त में इन्हीं में समा जाते है। यही कारण है कि पूजा और आराधना मानव किसी भी देव की करे उसकी पूजा, श्रद्धा, आराधना और उपासना का अंतिम बिन्दु तो भगवान विष्णु ही हैं।

बुन्देलखण्ड में वैष्णव धर्म की अधिकता यहां के मन्दिरों से ही ज्ञात हो जाती है। क्योंकि यहां निर्मित अनेक मन्दिरों में अधिकाधिक मन्दिर भगवान विष्णु के ही हैं। यहां पर वैष्णव धर्म का अधिक प्रसार होने का कारण यह भी है कि भगवान विष्णु अत्यन्त भक्त प्रेमी हैं और इस धरती पर पाप जब बहुत ज्यादा बढ़ जाता है तो वे स्वयं अवतार लेकर धरती को पाप मुक्त करते हैं इसके साथ ही भगवान विष्णु को भारत का यह भू–खण्ड अत्यन्त सुन्दर लगता है क्योंकि जब वे अवतार लेते हैं तो इस भू–खण्ड (बुन्देलखण्ड) में निश्चित आते हैं। जिसके उदाहरण निम्न हैं– 1– भगवान विष्णु जब श्रीकृष्ण के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुये तब वे यहां के शासक शिशुपाल का वध करने चन्देरी आये थे। इस घटना से शिशुपाल के साथ समस्त बुन्देलखण्ड की भूमि उनके स्पर्श मात्र से पवित्र हो गयी।

(2) भगवान विष्णु ने जब अपने भक्त की करूण पुकार सुनकर नृसिंह भगवान का अवतार लिया और एरचमें दानव हिरण्याकश्यप का वध कर अपने भक्त प्रहलाद की रक्षा की। इससे भगवान विष्णु अपने भक्त की रक्षार्थ हेतु बुन्देलखण्ड में दूसरी बार आये।

(3) भगवान विष्णु ने जब श्रीराम के रूप में अवतार लिया। तब वे अपने वनवास के समय चित्रकूट आये थे। यहां पर उन्होनें अपना कुछ समय व्यतीत किया। श्रीराम जी ने सीता माता को चित्रकूट दिखाते हुये कहा था–

"न राज्यं भृशनं भद्रे?

न सुहृभ्दि विनाभंव।

मनो में बाधते दृष्टवा,

रमणीयं इमं गिरिम्।।''[1]

जिसका अर्थ है इस रमणीक पर्वत को देखकर राज्य–च्युत दुःख भी मुझे नहीं सताता, सुहदों के पास दूर रहना भी मेरे लिये पीड़ा का कारण नहीं होता।

श्रीराम के रूप में भगवान विष्णु केचरण कमलों के स्पर्श मात्र से यह भूमि अभिमण्डित है।

चित्रकूट की महत्ता के विषय में रहीम दास जी ने लिखा है कि–

''चित्रकूट में रमि रहें, रहिमन अवध नरेश।

जापर विपदा परत है, सो आवत यहि देश।।''[1]

सतयुग के प्रणेता, चौदह वर्ष के वनबासी, जगत को आश्रय प्रदान करने वाले कर्तव्यनिष्ठ श्रीराम जी ने लक्ष्मण एवं सीता जी के साथ यहीं चित्रकूट में ही निवास कर अपने पावन, पुनीत कमल स्वरूपी चरणों से इस भूमि को पवित्रता एवं उज्जवलता प्रदान की थी जो आज भी इस कलियुग में विद्यमान है।

इन अवतारों के अतिरिक्त भगवान विष्णु नारद, सनकादि तथा अष्टादश पुराणों वं महाभारत के अमर रचनाकार श्री कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के रूप में त्याग, साधना और तपस्या की धूनी यहीं रमाई थी, जो इस प्रदेश का परम सौभाग्य समझा जाता है।

बुन्देलखण्ड को विश्व के मानचित्र में प्रमुख स्थान दिलाने में यहां निर्मित असंख्य मन्दिरों का ही योगदान है। जो अपने स्थापत्य,कला एवं शिल्प में अद्वितीय है। इन मंदिरों का निर्माण यहां के धर्मसहिष्णु, प्रजापालक एवं कला प्रेमी शासकों ने करवाया है। यहां पर सर्वाधिक मन्दिरों का निर्माण चन्देल राजाओं ने 950 ई0 से लेकर 1300 ई0 के बीच में करवाया था। इनमें अधिकांश मन्दिरों का निर्माण चन्देल राजाओं ने अपनी राजधानी खजुराहों में करवाया था। इन मन्दिरों के निर्माण के पीछे भी एक बहुत रोचक कहानी प्रचलित है।

---

(1) *बुन्देलखण्ड दर्शन* *मोतीलाल त्रिपाठी 'अशांत'* *पृ0सं0142*

कहा जाता है कि ब्राह्मण पुरोहित हेमराज की कन्या हेमवती रति तालाब में स्नान करने गयी हुई थी, तब चन्द्र देव उस पर मोहित हो गये। और वहां प्रकट हो गये। दोनों का प्रेम आगे बढ़ा और एक देव व स्त्री के मिलन की परिणति हेमवती गर्भवती हो गई । भगवान चन्द्र ने उसे "केन नदी पार करके एक खजुराहो जाकर चिन्तामणि वैन्य के साथ रहने का आदेश दिया।"[1] पुत्र जन्म के उपरान्त "भगवान चन्द्र ने अन्य देवताओं के साथ पुत्र जन्म महोत्सव को समपन्न किया। वृहस्पति ने जन्मांक बनाया और शिशु का नाम चन्द्रवर्मा रक्खा।"[2]

चन्द्रवर्मा ने सोलह वर्ष की आयु में एक शेर का वध कर दिया। उसी समय भवगान चन्द्र उसके समक्ष प्रकट हुये और उसे पारस पत्थर देकर राजनीति की शिक्षा प्रदान की। चन्द्र वर्मा ने आगे जाकर "चन्द्र वर्मन नाम से चंदेल वंश की स्थापना की। चन्द्रमा का पुत्र होने के कारण ये राजा चन्द्रवंशी कहलाये।"[3] चन्द्र वर्मन ने जब अपना राज्य सुसंगठित कर उसका एकक्षत्र राजा बना तब "उसने अपनी मां का लांछन दूर करने के लिये खजुराहो में एक यज्ञ किया तथा 85 मंदिर बनवाये"[4] हेमवती ऐसे मंदिर बनवाना चाहती थी जो मनुष्य की काम इच्छाओं को उजागर करते हो। ऐसा करके वह मानवीय इच्छायों के खालीपन के अहसास को भी रेखांकित करना चाहती थी।

चन्द्रवर्मन के बाद भी जितने चन्देश शासक गद्दी पर बैठे वे सभी धर्मसहिष्णु थे और वैष्णव धर्म को मानने वाले थे। कालान्तर में भगवान विष्णु के साथ ही साथ इनके अवतारों की पूजा का प्रचार हुआ। इनमें "बाराह, नृसिंह, राम आदि अवतारों की पूजा का प्रचार तत्कालीन समय में बुन्देलखण्ड में था। हरिवंश तथा विष्णु पुराण की

---

(1) इंडियन एण्टी० फरवरी सन 1873 (फुटनोट) पृ० सं० 33

(2) पर्शियन वंशावली के अनुसार

(3) दैनिक जागरण 'यात्रा' विशेषांक, 28 जनवरी 2007, रविवार पृ०सं०04

(4) आर्क्योलॉजी सर्वेरिपोर्ट भाग–2 पृ०सं० 446

रचना तथा असंख्य विष्णु मंदिरों का निर्माण इस युग में हुआ।"[1]

इन चन्देल राजाओं में "यशोवर्मन ने खजुराहो में वैकुण्ठ मंदिर का निर्माण किया"।[2] "परमर्दिदेव के मंत्री सलक्षण ने भी एक विष्णु मंदिर बनवाया।"[3] "मदनवर्मन के मंत्री गदाधर ने देदु नामक स्थान पर एक विष्णु मंदिर का निर्माण करवाया।"[4] इसके साथ ही साथ समस्त बुन्देलखण्ड में कई स्थानों पर अनेक विष्णु मंदिरों का निर्माण करवाया गया।

चन्देल राजाओं के इस वैष्णव मंदिर निर्माण का तारतम्य इनके बाद के बुन्देली राजाओं ने भी बनाये रक्खा। बुन्देली राजा मधुकरशाह ने ओरछा में चतुर्भुज मंदिर का निर्माण करवाया। महाराजा छत्रसाल ने पन्ना में युगलकिशोर मंदिर का निर्माण करवाया।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि समस्त बुन्देलखण्ड में विष्णु के साथ इनके अवतारों की भी पूजा का प्रचलन था। बुन्देलखण्ड के समस्त राजा धर्मसहिष्णु, कला मर्मज्ञ एवं कलाकारों का प्रसय देने वाले थे। इनके द्वारा बनवाये गये मंदिर, किला, तालाब आदि समस्त भवनों के कारण ही वर्तमान में बुन्देलखण्ड का पूरे विश्व में प्रमुख स्थान है। इन मंदिरों के स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, आदि समस्त कला कृतियां अद्वितीय हैं। बुन्देलखण्ड के शासकों के शासनकाल के सौन्दर्यपूर्ण तथा कलापूर्ण ये मंदिर उस काल के स्वस्थ और सुन्दर कलाप्रद गौरवपूर्ण वातावरण का परिचय प्रदान करते हैं।

---

(1) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास — अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ०सं०162

(2) इपी० इण्डि० भाग–1, श्लोक 42 — पृ०सं० 134

(3) इपी० इण्डि० भाग–1, श्लोक 46, 48 — पृ०सं० 194

(4) इपी० इण्डि० भाग–1, श्लोक 25, 29 — पृ०सं० 207

(ब) वैष्णव मंदिरों का स्वरूप एवं स्थापत्य कला

दशावतार मन्दिर : (देवगढ़)

वर्तमान उत्तर प्रदेश के जिला–ललितपुर में मुख्यालय से लगभग 23 मील पश्चिम में देवगढ़ स्थित है। यह बेतवा नदी के किनारे है। यहां निर्मित दशावतार मन्दिर गुप्तकालीन वास्तु का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह मन्दिर ऊँची चौड़ी कुर्सी पर बना है। इसका निर्माण स्थानीय पाषाण खण्डों से किया गया है। मन्दिर का ऊपरी भाग नष्ट हो चुका है।

"देवगढ़ मन्दिर के गर्भगृह का प्रवेशद्वार अत्यन्त कलापूर्ण है। उसे द्वार रक्षकों नदी देवताओं आदि की मूर्तियों से अलंकृत किया गया है। द्वार स्तम्भों पर लता अलंकरण आदि का सुन्दर आलेखन है।"[1]

मन्दिर पूर्णतया पंचायतन शैली का बना हुआ है। मन्दिर की दीवारों पर तीन ओर फलक पर गजेन्द्र मोक्ष, नर नारायण तथा शेषशायी विष्णु का अंकन अत्यन्त सुन्दर है। "फलक के शीर्षभाग पर मयूरारूढ़ कार्तिकेय, गजारूढ़, इन्द्र मध्य में नाभि से निकलते क्रम पर ब्रह्मा, आकाशगामी नदी पर आरूढ़ उमा महेश्वर एवं उनके बांयी ओर उनका गण सम्भवतः वीरभद्र का अंकन है। फलक के बीच में शेषाशायी विष्णु तथा उनके चरण दबाती हुयी लक्ष्मी जी की प्रतिमायें बनी हुयी हैं।

मंदिर में उत्तर की ओर गजेन्द्र मोक्ष, गरूढ़ारूढ़ विष्णु तथा नीचे की ओर अंजलि मुद्रा में नाग–नागी तथा जलाशय का अति सुन्दर अंकन है। मंदिर में पूर्व की ओर प्रथक –प्रथक शिला पर तपस्यारत नर–नारायण तथा गंधर्व आदि का

(1) भारतीय वास्तुकला का इतिहास — *के०डी० बाजपेयी* — *पृ०सं० 112*

(2) झांसी महोत्सव 'स्मारिका (1996)' — *पृ०सं०5–6*

अंकन कला की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय है।

मंदिर का स्थापत्य एवं विभिन्न उकेरी गयी कला कृतियां गुप्तकालीन वास्तु की परिपक्वता तथा मूर्तिकला की चरम अवस्था की द्योतक हैं।
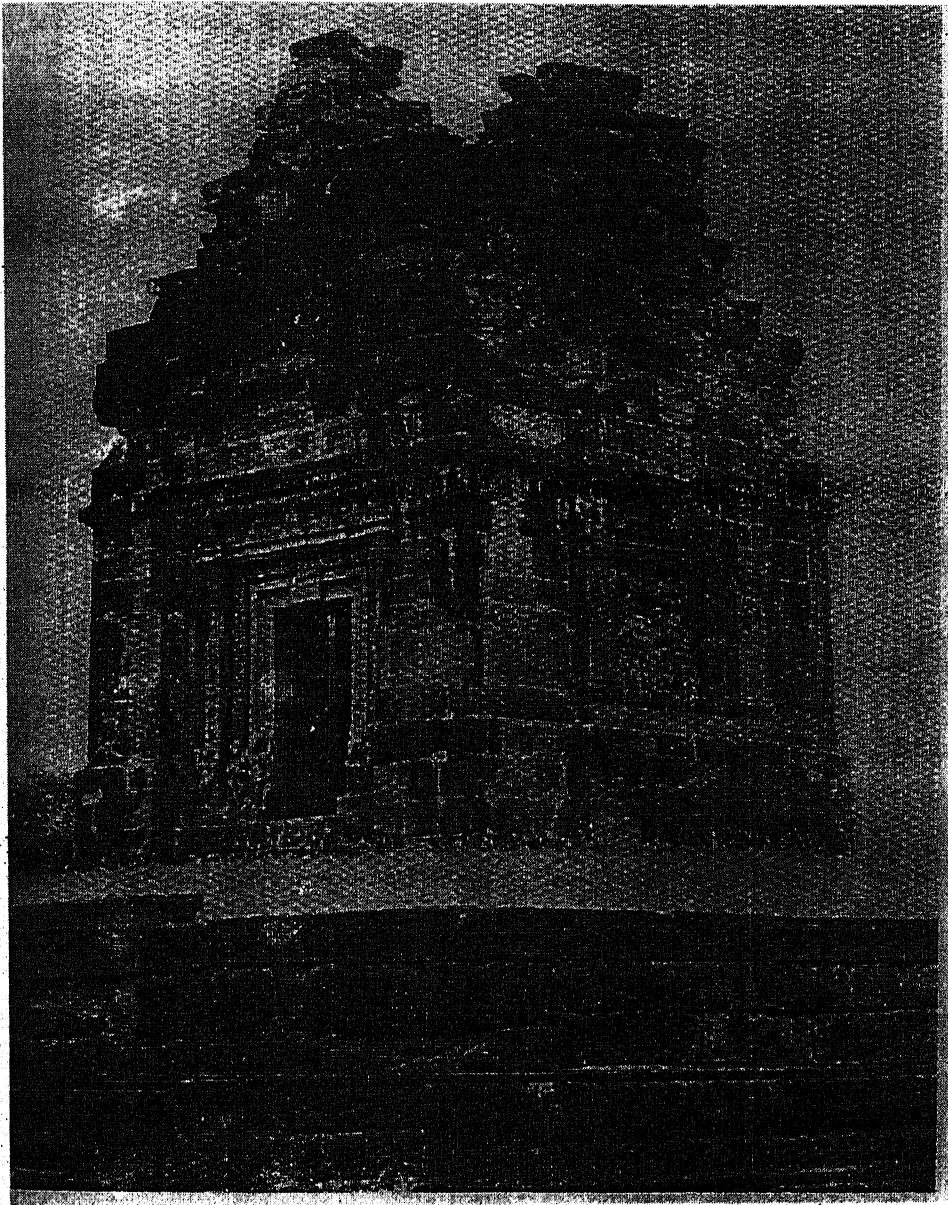
वराह मन्दिर (देवगढ़)

देवगढ़ महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल के रूप में प्रसिद्ध है। इस स्थान का गरिमापूर्ण, इतिवृत्त है जो भारत के ऐतिहासिक, पुरातात्विक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक पटल पर अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुये है।

देवगढ़ शब्द से ही यह ज्ञात होता है कि इस स्थान को देवताओं के गढ़ के रूप में स्वीकार किया गया है।

देवगढ़ का बराह मंदिर अत्यन्त प्राचीन एवं प्रतिहारकालीन है। यह मंदिर पर्वत श्रेणी पर जैन मंदिर समूह के दक्षिण–पश्चिम में लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर एक जगती पर बना हुआ है। मंदिर सम्भवतः पंचायतन शैली का है तथा इसका द्वार दक्षिणाभिमुख है।

इस मंदिर के भग्नावशेष विद्यमान है। मंदिर का केवल अधिष्ठान बचा है। इसकी प्रधान मूर्ति नृवराह खण्डित है परन्तु वर्तमान में यथास्थान लगी हुयी है। "इस मन्दिर में भी तीन फलक लगे हुये थे जिसे प्रकार दशवातार मन्दिर में"[1] "गर्भगृह के अन्दर पीठिका पर लेटे नाग व नागी की प्रतिमा लगी हुयी है।"[2] गर्भगृह के अन्दर जाने के लिये एक लघु द्वार का अवशेष मात्र है।

कला की दृष्टि से इस मंदिर की दीवालों पर जो अंकन था वह दशावतार मंदिर के अंकन की कोटि का नहीं है। यह स्थानीय स्कल्पचर शेड में सुरक्षित है।

---

(1) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व — एस0डी0त्रिवेदी — पृ0सं0 77

(2) देवगढ़ 'एकदृष्टि' लेख — रमाशंकर (पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति अधिकारी, झांसी) — पृ0सं0 4

विष्णु मंदिर, तिगवा (जबलपुर)

वर्तमान मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में तिगवां नामक स्थान है। इतिहासकारों के अनुसार इस स्थान पर किसी समय अनेक मन्दिर बने होगें परन्तु अब यहां केवल एक मन्दिर बचा है। जो भगवान विष्णु को समर्पित है।

यह मन्दिर गुप्तकाल में लगभग 425 ई0 में बना था। यह सम्पूर्ण मन्दिर पत्थर द्वारा निर्मित, वर्गाकार है। मंदिर की छत सपाट है। जिस पर पुष्प, कमल का अंकन है। मंदिर का बाह्य भाग (मण्डप) चार स्तम्भों पर बना है। गर्भगृह में नृसिंह की मूर्ति स्थापित है। "मण्डप के स्तम्भ नीचे तो चौपहल है, कुछ दूर जाकर वे अठपहल और फिर सोलह पहल हो गये हैं और फिर वे लगभग गोल रूप धारण कर लेते हैं।"[1] इनके ठीक ऊपर कुम्भाकृति है और फिर ये आकृति तीन भागों में विभक्त होकर पीठिका तथा शीर्ष पीठिका के रूप में बनी हुयी है।

"मन्दिर के द्वार स्तम्भों पर नदी देवता गंगा तथा यमुना का सुन्दर अलंकरण है।"[2] स्तम्भों की तरह मन्दिर का द्वार भी अलंकृत है तथा इसके साथ अलग–बगल में अर्द्ध स्तम्भों का सुन्दर अंकन है। इनके अतिरिक्त सिर दल के ऊपर तेरह चौकोर टोडे निकले है जो लकड़ी की धरन की अनुकृति से प्रतीत होते हैं।

---

(1) भारतीय वास्तुकला — डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त — पृ0सं0 84

(2) भारतीय वास्तुकला का इतिहास — डॉ0 के0डी0 बाजपेयी — पृ0सं0 112

देवी जगदम्बा मन्दिर, खजुराहो

मध्यप्रदेश के जिला छतरपुर में संसार प्रसिद्ध खजुराहो स्थित है। चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित यहां अनेक मन्दिर है। जिनमें अधिकांश भगवान विष्णु को समर्पित हैं।

निरन्धार शैली के इस मन्दिर का निर्माण 10 वीं अथवा 11 वीं शतांब्दी में हुआ था। इसके निर्माण का अनुमान मन्दिर में उत्कीर्ण राजगीर चिन्हों से लगाया जाता है। "वास्तव में यह एक विष्णु मन्दिर है, क्योंकि इसके गर्भगृह के मुख्य द्वार पर विष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित है और उसके दाहिने ओर शिव तथा बाई ओर ब्रह्मा की मूर्ति है। गर्भगृह के अन्दर भगवती लक्ष्मी की 5 फीट 8 इंच की विशाल मूर्ति भी है और सभंवतः इसी कारण यह देवी जगदम्बा का मन्दिर कहलाता है।"[1]

मंदिर की आंतरिक संरचना में क्रमशः प्रवेश द्वार, महामण्डप, अंतराल व गर्भगृह आते है। मण्डप की छत के पत्थरों पर अनेक कला कृतियां उत्कीर्ण है, जो अत्यधिक सुन्दर एवं दर्शनीय हैं।

मन्दिर का ब्राह्य भाग कन्दरिया महादेव के मन्दिर जैसा ही अत्यन्त सुन्दर एवं दर्शनीय है। मन्दिर की दीवालों पर पहले बड़ीं प्रम्मिाओं की दो लाइने है उन के ऊपर छोटी प्रतिमाओं की एक लाइन बनी हुयी है। इन लाइनों में उत्कीर्ण मूर्तियों में शिव–पार्वती, आलिंगन बद्ध प्रतिमायें सजती हुयी स्त्रियों की मूर्तियां मन्दिर की प्रमुख कला–कृतियों में आती हैं।

"चन्देल शासक गंड देव के शासन काल में निर्मित इस मन्दिर में गंडदेव की स्थापत्य कला प्रेमी का प्रमाण मिलता है।"[2]

---

(1) आर्क्योलोजी सर्वे रिर्पोट   भाग–2   पृ0सं0421

(2) लधु शोध प्रबन्ध   पूजा गुप्ता   पृ0सं0 44

चतुर्भुज (लक्ष्मण) मदिर (खजुराहो)

पंचायतन शैली का बना यह मन्दिर खजुराहो के सबसे अधिक सुरक्षित एवं भव्य मन्दिरों में से एक है। मन्दिर में लगे एक शिलालेख के अनुसार "नृप यशोवर्मन ने यह मन्दिर बनवाया था। यशोवर्मन को लक्ष्मण वर्मन भी कहा जाता है उन्हीं के नाम से इसे लक्ष्मण मंदिर भी कहते है।"[1] इस मंदिर का निर्माण लगभग 930 ई0 में हुआ था।

यह मन्दिर पच्चीस फीस चार इंच लम्बा तथा चबालीस फीट चौड़ा है। इस मन्दिर से सम्बद्ध पांच उप मन्दिर है। चार मन्दिर इसके चारों कोनों में तथा पांचवा मन्दिर मुख्य द्वारके सामने स्थित है। मुख्य मन्दिर के प्रवेश द्वार पर भगवान सूर्य की एक सुन्दर प्रतिमा जिसमें वे एक रथ पर सवार है तथा हाथ में कमल के दो फूल लिये हुये हैं बनी हुयी है। मंदिर के बांये से दाये ओर भगवान गणेश की मूर्ति उत्कीर्ण है। इसके बाद जगती से वेदी बन्ध तक बेल-बूटे, कीर्तिमुख व हाथियों से सुशोभित एक लाइन के ऊपर इस युग की झलक स्पष्ट रूपसे दिखलाई पड़ती है। जिनमें छोटी-छोटी प्रतिमायें लगी हुई हैं। इनमें नृत्य, संगीत, शिकार, युद्ध, मैथुन आदि के दृश्य अंकित हैं जो उस युग के रहन-सहन, रीति-रिवाजो व परम्पराओं की झांकी दिखाते हैं।

मन्दिर की प्रमुख दीवाल पर ढाई फुट ऊँची बड़ी-2 प्रतिमायों की दो लाइने बनी हुयी है। पहली लाइन में शिव प्रतिमायें हैं इनमें शिव जी, त्रिशूल, नाग, रूद्राक्ष माला एवं कमण्डल आदि के साथ दूसरी पंक्ति में विष्णु शंख, चक्र, पदम आदि के साथ अभय व अंजलि मुद्रा में बैठे हुये की प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं

"सान्धार शैली में निर्मित इस मन्दिर" की गर्भगृह में चतुर्भुजी भगवान

---

(1) 'खजुराहो' पत्रिका प्रकाशक-लाल चन्द्र एण्ड सन्स पृ0सं021-44

(2) भारतीय वास्तुकला डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त पृ0सं0 124

विष्णु की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। बालू पत्थर से बने इस मन्दिर में अलंकरण तथा मूर्तियाँ अंसख्य तथा अत्यन्त दर्शनीय है। इस मन्दिर में आकार ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान विष्णु का यह मन्दिर उनका वैकुण्ठ हो, तथा वे गर्भगृह में विश्राम कर रहे हों।
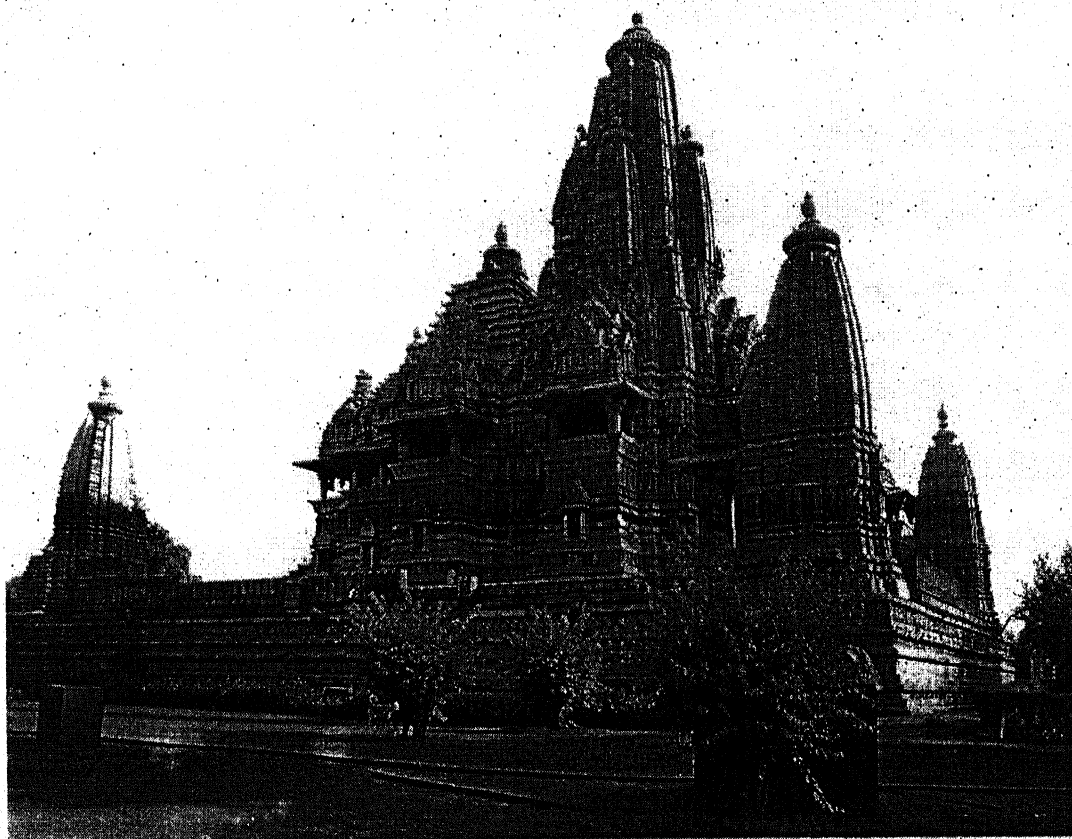
वाराह मन्दिर खजुराहो

यह मन्दिर चतुर्भुज मन्दिर के पूर्व की ओर मंतगेश्वर मन्दिर के सामने है। इस मन्दिर का निर्माण लगभग 9वीं तथा 10वीं शताब्दी में हुआ था। यह मन्दिर भगवान विष्णु को समर्पित है। यहां उनका हिरणाक्ष नामक राक्षस को मारकर पृथ्वी को पाताल से निकाल कर लाने का रूप दिखलाया गया है।

लावा पत्थर की ऊँची नींव पर बालू पत्थर से निर्मित यह आयताकार मन्दिर "साढ़े बीस फीट लम्बा तथा सोलह फीट चौड़ा है।"[1] इस मन्दिर का शिखर मंतगेश्वर मन्दिर के समान पिरामिड शैली में निर्मित है। मन्दिर की छत पर सुन्दर कमल पुष्प का अलंकरण है। यह पुष्प "दो टुकड़ों में बने सहस्त्र दत पदम् प्रतीत होते हैं।"[2]

इस मन्दिर में चौदह स्तम्भ बने हुये हैं। मन्दिर के प्रत्येक कोने में तीन–तीन स्तम्भ तथ पश्चिम की ओर दो स्तम्भ हैं, "जिसके आश्रय से एक बरामदा तथा एक रास्ता बना हुआ है इसकी छत क्रमशः एक के बाद एक वर्गाकार पत्थर को रखकर बनायी गयी है।"[3] इस मन्दिर में प्रतिष्ठित बाराह मूर्ति 8 फीट 9 इंच लम्बीं तथा 5 फीट 6 इंच ऊँची है। यह मूर्ति खड़े हुये वाराह की है, जिसके पीछे के दो पैर पीठिका पर दिखलाये गये हैं। वाराह की मूर्ति के नीचे कुण्डली बांधे सर्प की मूर्ति है जिसकी पूँछ वाराह के पैर से दबी हुयी है और उसका सिर किसी बैठे हुये व्यक्ति द्वारा दवा सा प्रतीत होता है।

---

(1) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट भाग–2 पृ0सं0 427

(2) खजुराहो पत्रिका पृ0सं0 42–43

(3) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ0सं0 197
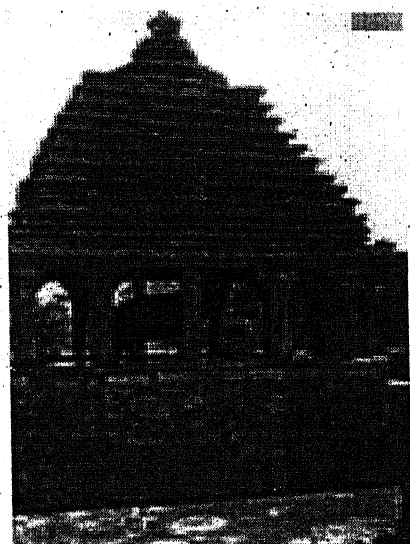
वाराह मन्दिर
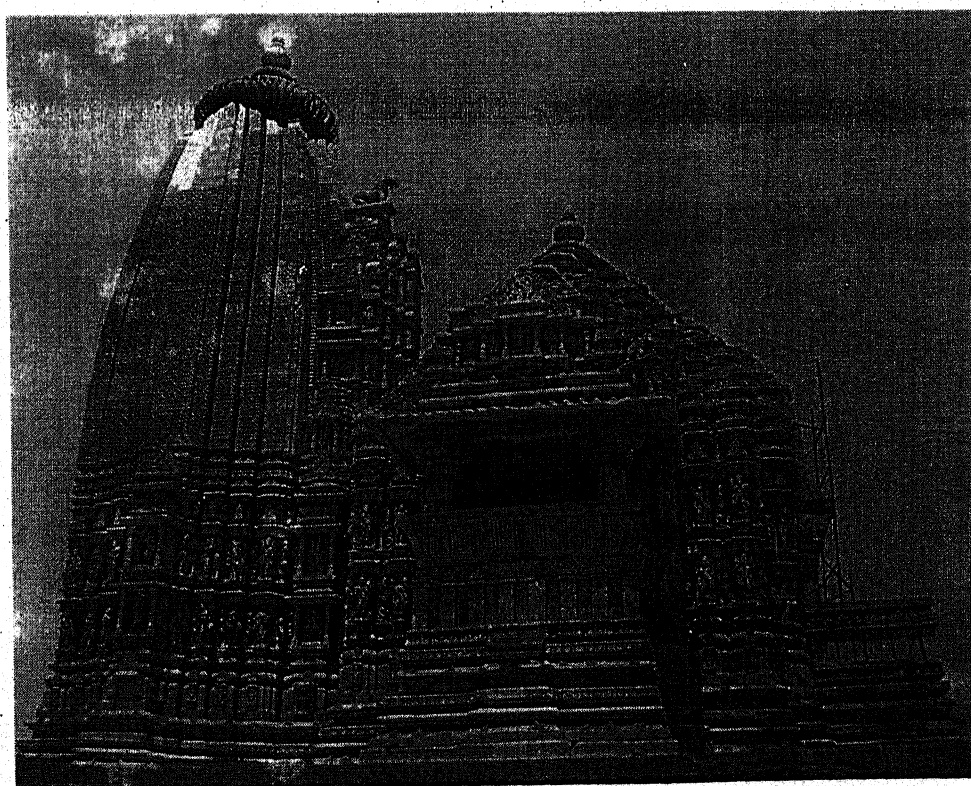
वामन मन्दिर

वामन मन्दिर खजुराहो

भगवान विष्णु के वामन रूप को समर्पित यह मन्दिर पूर्वी समूह का प्रमुख हिन्दू मन्दिर है। यह मन्दिर देवीजगदम्बा तथा चित्रगुप्त आदि मन्दिरों की तरह निरन्धार शैली का बना हुआ हैं इस मन्दिर का निर्माण लगभग 10 वीं तथा 11वीं ई0 में हुआ। "मन्दिर की लम्बाई 60 फीट तथा चौड़ाई 45 फिट 3 इंच है।"(1)

मन्दिर ऊँची चौड़ी कुर्सी पर बना है। मन्दिर का प्रवेश द्वार जो अर्द्ध मण्डप कहलाता है टूटा हुआ है और इसके आगे महामण्डप तथा गर्भगृह अच्छी स्थिति में है। मन्दिर में दो अहाते बने हुये हैं। इस मन्दिर में उत्कीर्ण मूर्तियां दो पंक्ति में सुसज्जित हैं इनमें से एक पंक्ति में नायिकाओं का अद्‌भुत श्रृंगार करते हुये दिखाया है, जिसमें वह अपने बाल संवारती, जेवर पहनती, शर्माती हुयी मुद्रा में दिखती है। इसके साथ ही यहां भगवान शिव एवं पार्वती के विवाह का भी सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है। जिसमें शिव एवं पार्वती को अग्नि के फेरे लेते हुऐ दिखाया गया है।

"इस मन्दिर में वाराह मूर्ति 4 फीट 8 इंच ऊँची है।"(2) खजुराहो के पश्चिमी समूह के मन्दिरों की तुलना में इस मन्दिर की अलंकारिता साधारण है और इसमें उत्कीर्ण मूर्तियाँ भी कम हैं।

वामन मन्दिर स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण और अपने ढ़ंग का अलौकिक उदाहरण है

---

(1) आर्ज्योलॉजी सर्वे रिर्पोट भाग–2 पृ0सं0 429–30

(2) 'खजुराहो के मन्दिरों पर एक विहंगम दृष्टि' – पूजा गुप्ता पृ0सं046

जबारी मन्दिर खजुराहो

खजुराहो के उत्तर पूर्व में स्थित जवारी मन्दिर लगभग 1075–1110 ई0 के मध्य में बनवाया गया एक छोटा सा मन्दिर है। यह मन्दिर बामन मन्दिर से 200 मीटर दक्षिण की ओर स्थित भगवान विष्णु को समर्पित है। यह मन्दिर 38 फीटर लम्बा तथा 26 फीटर चौड़ा है।

"जनरल कनिंघम का विचार है कि भूमि में स्थित होने के कारण यह जबरा मन्दिर कहलाता है।"[1] मन्दिर का छोटा रूप ही इसकी एक प्रमुख विशेषता है।।"मन्दिर की ब्रह्य दीवालों पर प्रतिमायों की तीन अलग–अलग लाइने बनी हुयी है।[2] इस मन्दिर की प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी दीवाल पर अष्ट दिग्वालों की मूर्तियां बनी हुयी है जो कि अलग–अलग आलों में बनी हैं। अन्य मूर्तियों में स्त्रियों की, देवी–देवताओं की तथा पशुओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस मन्दिर की प्रतिमायें भी अन्य बड़े मन्दिरों की प्रतिमायों के समान ही भव्य मनोहारी व सुन्दर हैं।

मन्दिर के गर्भगृह में चतुर्भुजी भगवान विष्णु की खड़ी हुयी प्रतिमा है जिसको देखते ही लक्ष्मण मन्दिर के समान इस मन्दिर में भगवान के वैकुण्ठ रूप के दर्शन होते हैं। मन्दिर के प्रवेश द्वार का मकरतोरण छोटे रूप में भी होते हुये भव्य एवं सुन्दर है।

---

(1) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ0सं0 198

(2) खजुराहो 'पत्रिका' पृ0 सं0 44
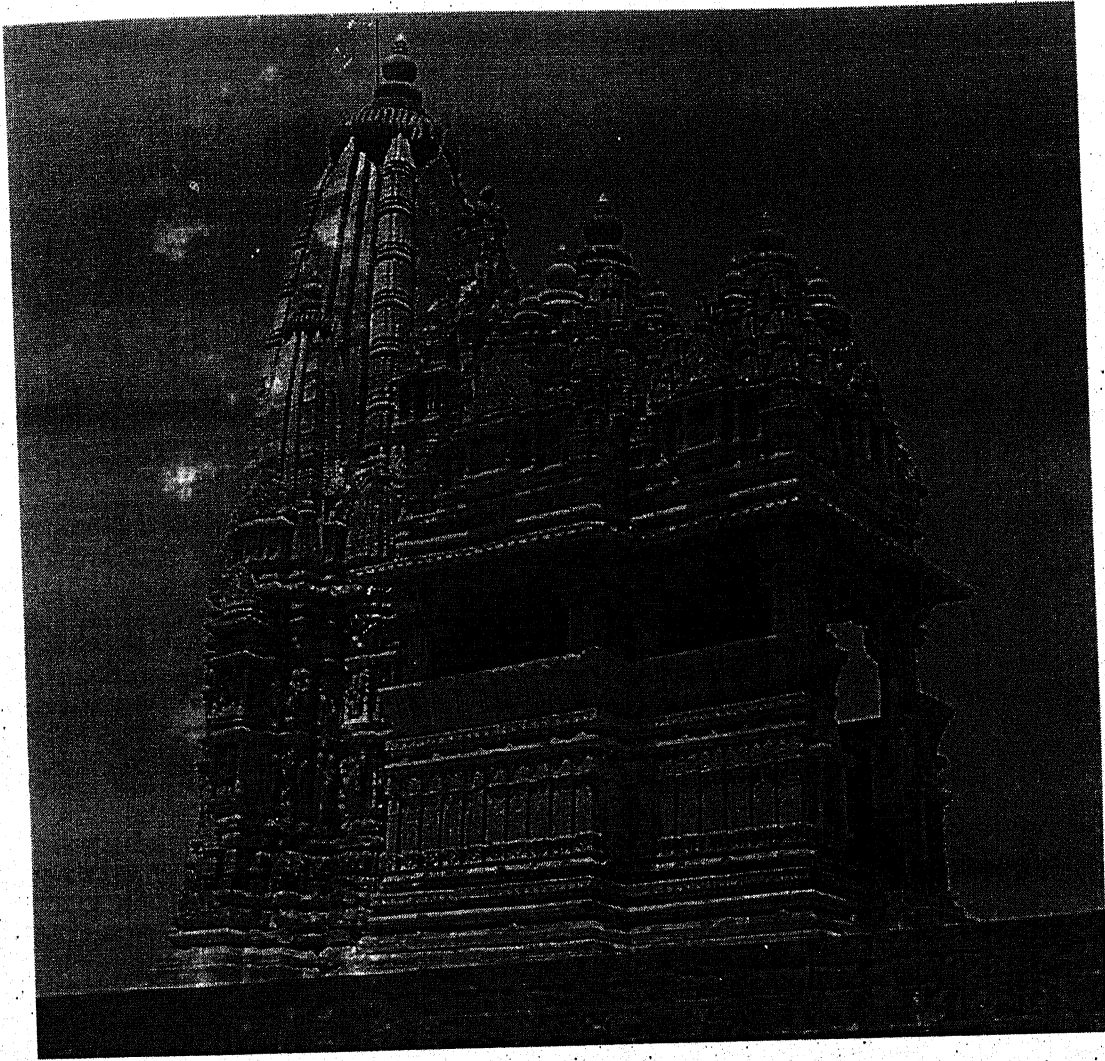
जबारी मन्दिर
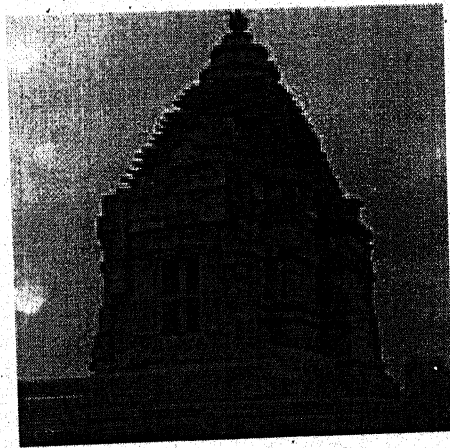
ब्रह्मा या गदाधर मन्दिर

ब्रह्मा अथवा गदाधर मन्दिर खजुराहो

खजुराहो के खजूर सागर के पूर्वी किनारे पर यह मंदिर स्थित है। "यह मन्दिर बाहर से उन्नीस वर्ग फीट लम्बा हैं और अन्दर से इसका विस्तार दस वर्ग फीट है। इसकी छत सूची स्तम्भाकार है जिस पर गुम्बज बने हुये है। यह मन्दिर कड़ी चट्टानों तथा बालुका प्रस्तर से बना है।"[1]

इस मन्दिर का अलंकरण खजुराहो के पश्चिमी समूह के मंदिरों से भिन्न है। इस आधार पर जनरल कनिंघम का अनुमान है कि "यह प्राचीन मंदिर है इसका निर्माण 8 वीं तथा 9 वीं शताब्दी में हुआ था।"[2]

मंदिर के गर्भगृह में चतुर्मुखी मूर्ति प्रतिष्ठित होने के कारण यह ब्रह्मा मंदिर के नाम से भी प्रसिद्ध है, क्योंकि गदाधर की मूर्ति मुख्य द्वार के मध्य में स्थित है।"[3]

गर्भगृह के द्वार पर मकर बाहिनी गंगा तथा कूर्म बाहिनी यमुना की मूर्ति उत्कीर्ण हैं। इनके साथ ही अनेक प्रकार के बेल-बूटे तथा पुष्प अलंकरण से मन्दिर सुसज्जित है।

---

(1) खजुराहो के मन्दिरों पर एक विहंगम दृष्टि — पूजा गुप्ता — पृ0सं0 47

(2) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट — भाग-2 — पृ0सं0 430

(3) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट — भाग-2 — पृ0सं0 429

लक्ष्मीनाथ मंदिर खजुराहो

खजुराहो का यह मन्दिर लगभग 1011 अथवा 954 ई0 का बना हुआ है। इस तथ्य की पुष्टि मंदिर में लगा धंगदेव का शिलालेख करता है। "यह मन्दिर 83 फीट लम्बा तथ 45 फीट चौड़ा है।"[1]

निरन्धार शैली से निर्मित यह मंदिर खजुराहो के मन्दिरों से भिन्न है। क्योंकि इस मंदिर की वाह्य दीवारों तथा शिखर पर कोई मूर्ति नहीं उकेरी गयी है। यह मंदिर अत्यन्त विशाल एवं भव्य हैं जो अपनी स्थापत्य कला के कारण प्रसिद्ध है। मन्दिर शिखर शैली का ही उदाहरण है। मंदिर के गर्भगृह के ऊपर सबसे लम्बा शिखर है। मंदिर की आकृति देखने से पहाड़ नुमा लगता है।

मंदिर के गर्भगृह में चतुर्भुजी अभय मुद्रा में भगवान विष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित है"।[2]

---

(1) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट भाग–10 पृ0सं014–20

(2) खजुराहो 'पत्रिका' पृ0सं0 44

विष्णु मन्दिर, गोंड

उत्तरप्रदेश के बांदा जिले के अन्तर्गत कर्बी से तेरह मील दूर गोंड नामक स्थान स्थित है। खजुराहो की ही तरह इस ग्राम में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ था, परन्तु वर्तमान में सभी मन्दिर लगभग ध्वस्त हो चुके हैं। अब यहां पर केवल दो मंदिर ही जीर्ण–शीर्ण अवस्था में है। "ये मंदिर भी चंदेल कालीन कहलाते हैं।"(1)

इन मन्दिरों के सन्दर्भ में ऐसा कहा जाता है कि इन मन्दिरों का निर्माण बनाफर सरदार आल्हा–ऊदल तथा चन्देल नरेश परमाल ने करवाया है। इनमें सबसे बड़े मन्दिर में अर्द्धमण्डप तथा गर्भगृह हैं इसका मुख्य द्वार पूर्वाभिमुख है। कनिंघम के अनुसार– यह विष्णु मंदिर है क्योंकि इसके द्वार पर विष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित है।"(2)

मंदिर की लम्बाई 55 फीट तथा चौड़ाई 48 फीट 9 इंच और ऊँचाई 40 फीट है। इस मन्दिर का शिखर अब भी सुरक्षित है, जिसमें कलश मात्र शेष बचा है। इसी मन्दिर के समीप एक छोटा सा मन्दिर है जो भगवती लक्ष्मी को समर्पित है।

विष्णु मन्दिर, बिलहरिया

यह ग्राम बांदा जिले के रसिन ग्राम से लगभग 10 मील दूर है। यह मंदिर एक छोटी सी पहाड़ी जो लगभग 70 फीट ऊँची है उस पर स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण लगभग 11वीं तथा 12 वीं शताब्दी में हुआ था। चन्देल शासक परमाल ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया।

यह एक छोटा सा मन्दिर है। इस मन्दिर का अलंकरण अत्यधिक

---

(1) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ०सं० 199

(2) आर्क्यो० सर्वे० रि० भाग–21 पृ०सं०13–14

आकर्षण है तथा इस मन्दिर की उत्तम स्थिति ने इसे और भी ज्यादा आकर्षक बना दिया है। "इस मन्दिर में केवल गर्भगृह है और सामने 9 वर्ग फीट का बरामदा है। गर्भगृह बाहर से ग्यारह फीट लम्बा तथा चार फीट चौड़ा है।"[1] वर्तमान में इस मन्दिर का शिखर पूर्णतः सुरक्षित है, परन्तु उसका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है। कनिंघम के अनुसार– "यह एक विष्णु मन्दिर है। मंदिर के मुख्य द्वार में विष्णु की मूर्ति है और दाहिने तथा बाई ओर क्रमशः ब्रह्मा तथा शिव की मूर्तियां स्थापित है।"[2]

रामराजा मन्दिर ओरछा

झांसी से आठ मील पूर्व जिला टीकमगढ़ में ओरछा तीर्थ स्थित है। ओरछा का यह मन्दिर वास्तव में एक महल है जिसका निर्माण महाराज भारतीचन्द्र ने सं0 1589 में करवाया था, जो प्रारम्भ में नौचकिया महल के नाम से प्रसिद्ध था।

ऐतिहासिक और धार्मिक तथ्यों से यह स्पष्ट है कि "मधुकर शाह की रानी गणेश कुंअरि"[3] की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान श्रीराम ने उन्हें स्वप्न में बाल रूप में दर्शन दिये और उनकी इसी रूप की प्रतिमा अयोध्या से लाने का आदेश दिया। महारानी गणेश कुंअरि ने यह आज्ञा मानकर श्री राम जी की मूर्ति अयोध्या से पुण्य नक्षत्र में अपनी गोद में लेकर पैदल चलकर ओरछा लायीं थीं, और इस यात्रा के दौरान महाराजा मधुकर शाह ने अपने महल के सामने श्रीरामजी के लिये एक भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया, परन्तु श्री राम जी की मूर्ति मन्दिर निर्माण के पहले ओरछा आ गयी और महल में स्थापित कर दी गई। इस कारण महल ही

---

(1) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास — अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ0सं0 199

(2) आर्क्यो0 स0 रि0 — भाग–21 — पृ0सं019–20

(3) ओरछा का इतिहास — डा0 लक्ष्मण सिंह गौर — पृ0सं057–60
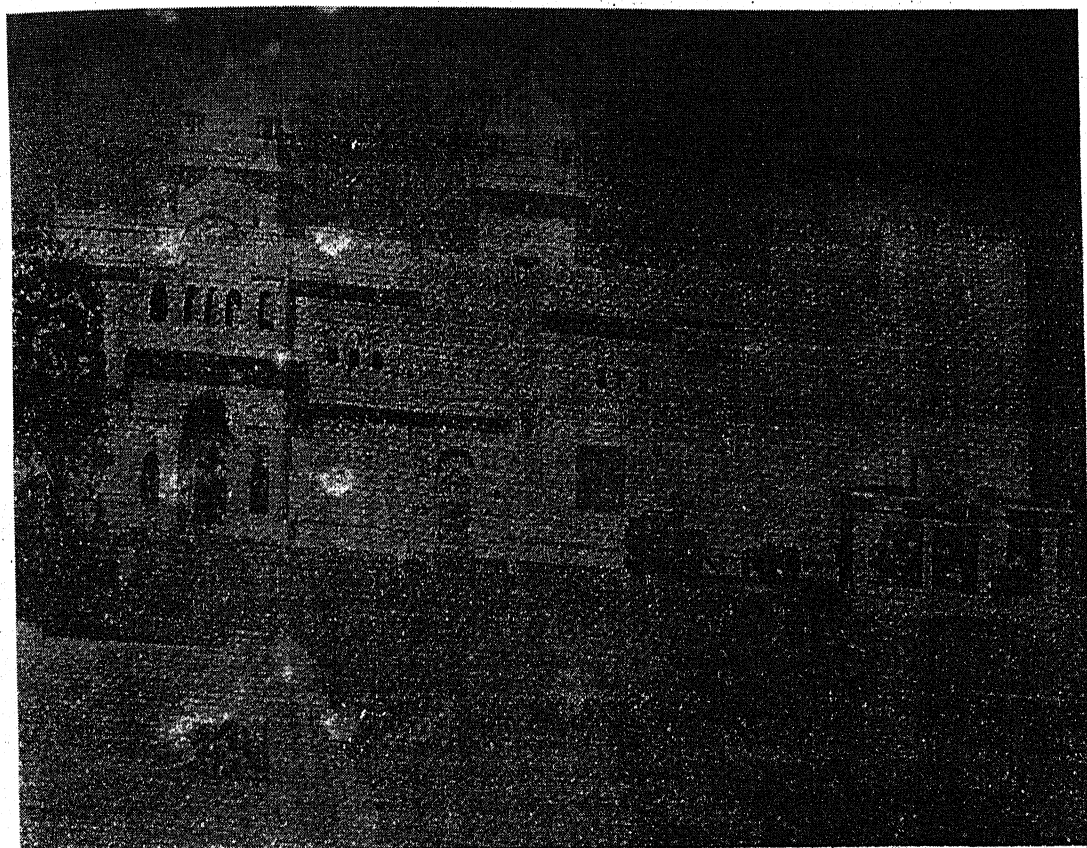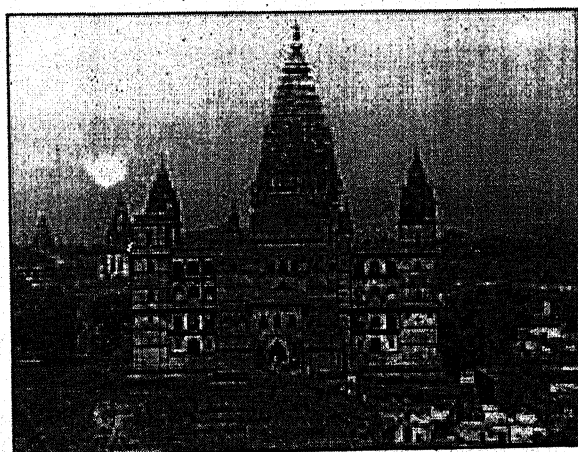
रामराजा मन्दिर, ओरछा

चतुर्भुज मन्दिर, ओरछा

मन्दिर के नाम से विख्यात''[1] हो गया।

महल का स्थापत्य पूर्णतः बुन्देला शैली का ही है। इसकी बनावट 'क्रास' जैसी है। महल के प्रत्येक कोने में छतरी है। ''प्रवेश द्वार मेहराब दार है। और इसे मेहराबदार आलों से सजाया गया है। महल के प्रवेश द्वार पर दो तोपें रखी हुयी है। जिनसे श्रीरामचन्द्र को सलामी दी जाती थी। भारत के समस्त मन्दिरों में श्रीरामजी की केवल यहां राजा के रूप में पूजा की जाती है।

चतुर्भुज मन्दिर, ओरछा

बुन्देलखण्ड के प्रमुख तीर्थों में ओरछा के रामराजा मन्दिर के सामने चतुर्भुज भगवान का मन्दिर स्थित है। स्थानीय जनश्रुति के अनुसार ''रामराजा की मूर्ति को स्थापित करने के लिये सोलहवीं शताब्दी में बुन्देला राजा मधुकर शाह ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया।''[2] लेकिन ''मन्दिर को अच्छे प्रकार बनवाने का श्रेय वीर सिंह को है।''[3]

यह मन्दिर एक ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। मंदिर में वास्तुकला की विकसित परम्परा देखने को मिलती है। मन्दिर निरधार शैली में निर्मित है। मंदिर तक पहुंचने के लिये सोपानपथ निर्मित हैं। मन्दिर में प्रकाश के लिये वातायन की व्यवस्था है इसमें शिखरों और गुम्बदों की सुन्दर संयोजना बनी हुयी है। मंदिर के प्रत्येक भाग पर अलग–अलग लघु शिखर हैं तथा चन्देल कालीन मंदिरों के समान गर्भगृह

---

(1) कल्याण 'तीर्थांक विशेषांक' — गीता प्रेस गोरखपुर — पृ०सं०39

(2) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व — एस०डी० त्रिवेदी — पृ०सं०39

(3) बुन्देलखण्ड दर्शन — मोती लाल त्रिपाठी — पृ०सं० 158

(4) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व — एस०डी० त्रिवेदी — पृ०सं०36

के ऊपर सबसे ऊँचा शिखर है। शिखर भाग तक जाने के लिये सोपान बने हुये हैं। गर्भगृह का द्वार पहले जैसा अलंकृत नहीं है। चौखट के ऊपर दशावतार का चित्रण किया गया है। मन्दिर की बाह्य तथा अन्दर की दीवालें सादी हैं। मंदिर के ऊपर जाने के लिये अनेक सोपान बने हैं जो कि भूल–भुलैया जैसा स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। यह मंदिर अपनी विशालता और भव्यता के लिये प्रसिद्ध है।

लक्ष्मी मन्दिर, ओरछा

ओरछा का यह मंदिर भगवान विष्णु तथा समृद्धि की देवी लक्ष्मी जी को समर्पित है। इस मन्दिर का निर्माण वीर बुन्देला शासक "वीरसिंह जू देव ने सोलहवीं शताब्दी में करवाया था।"[1] यह मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। "यह मंदिर बाहर से त्रिकोण लगता है परन्तु भीतर से चौकोर है।"[2]

यह मंदिर श्री रामराजा मंदिर के पीछे और बुन्देली कवीन्द्र केशव दास के भवन के समीप है। इस मंदिर का निर्माण ईटों से हुआ हैं इस मन्दिर में मन्दिर स्थापत्य तथा दुर्ग निर्माण दोनों का समन्वित रूप दिखलाई पड़ता है। मंदिर का प्रवेश द्वार मेहराबदार है तथा द्वार के दोनों ओर दो–दो आले बने हुये हैं। प्रवेश द्वार की छत पर दोनों ओर एक–एक बुर्ज का निर्माण है तथा बीच में एक ऊँचे बुर्ज का निर्माण है जिसमें छोटे–छोटे द्वार बने हुये है। मंदिर के गर्भगृह का शिखर सबसे ऊँचा है तथा इसके साथ ही दो अंग शिखर बने हुये हैं।

मंदिर के अन्दर दीवालो पर तथा दालानों में नीचे से ऊपर छत तक

---

(1) ओरछा का इतिहास — ठाकुर लछमन सिंह गौर — पृ०सं० 88

(2) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व — एस०डी० त्रिवेदी — पृ०सं० 36
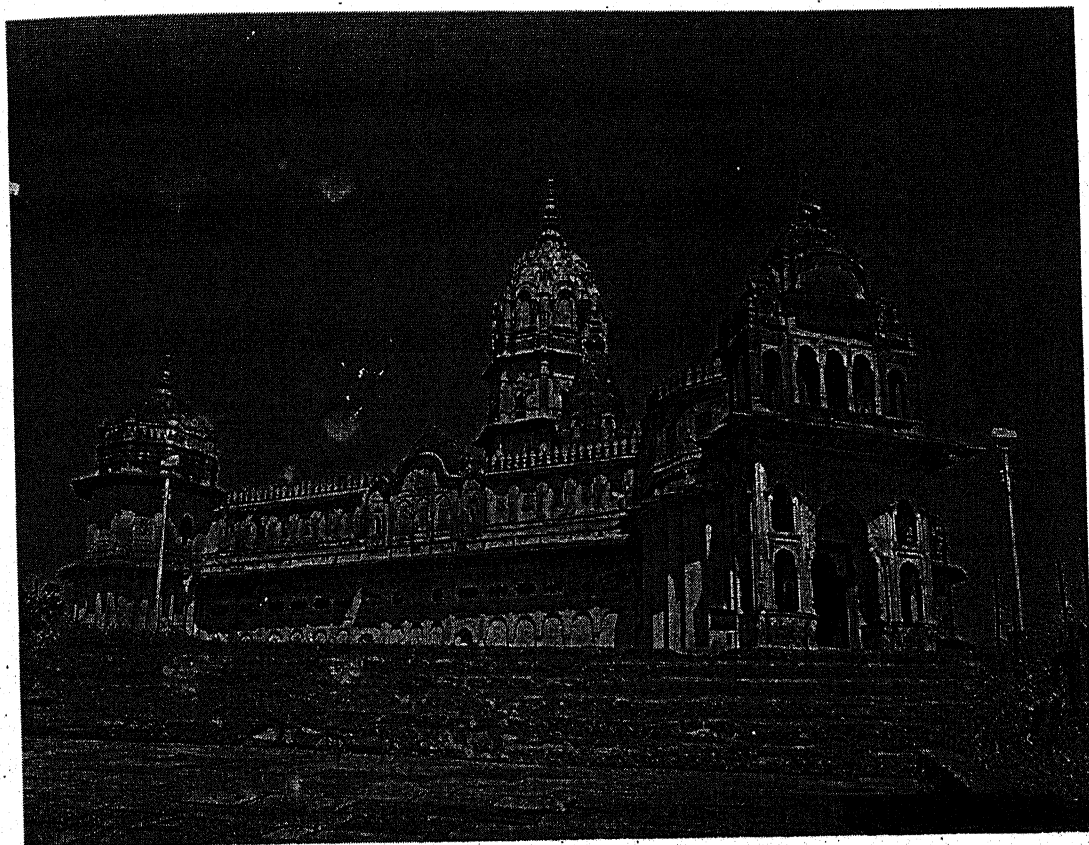
लक्ष्मी मन्दिर, ओरछा

युगल किशोर मन्दिर, पन्ना

बुन्देली चित्रकला का अतिसुन्दर अलंकरण देखने को मिलता हैं। चित्रकारी में अनेकानेक रंगो का सुन्दर समन्वय है, जो अपने काल की स्थापत्य एवं चित्रकला की चरम सीमा का बखान करती है।

युगल किशोर मन्दिर पन्ना

बुन्देलखण्ड का यह रमणीक स्थल मध्यप्रदेश में है। पन्ना जिला बुन्देलखण्ड का महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। पन्ना का यह विशाल मन्दिर पन्ना नगर के मध्य स्थित है।

इस मन्दिर का निर्माण ''महाराज सभासिंह के पुत्र महाराजा हिन्दूपत द्वारा संवत 1813''(1) में हुआ था। इस मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियां महाराज मधुकर शाह के गुरू, स्वामी हरीराम व्यास जी वृन्दावन धाम के रास क्रीड़ा क्षेत्र निकुंज सेवा कुंज से ओरछा लाये थे तथा ओरछा से ये मूर्तियाँ महन्त गोविन्द दीक्षित पन्ना ले गये।''(2)

यह मन्दिर मध्यकालीन वास्तु का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह मन्दिर आयताकार हैं मन्दिर का प्रवेश द्वार मेहरावदार है तथा इसके दांयीं एवं बांयी ओर एक–एक द्वार बना हुया है। प्रवेश द्वार के ऊपर अर्द्धवृत्ताकार बुर्ज है तथा छत के दोनों कोनों में एक–एक चार खम्बे वाला बुर्ज बना है। मन्दिर की वाह्य दीवालों पर अनेक मेहरावदार द्वार का अलंकरण है। मन्दिर के गर्भगृह का शिखर स्तूपाकार है जिसके चारों कोनों में छोटे–छोटे बुर्ज बने हैं। बाहर निकली हुयी छत को दीवाल

---

(1) ओरछा का इतिहास ठाकुर लछमन सिंह गौर पृ0सं0225–30

(2) बुन्देलखण्ड दर्शन मोतीलाल त्रिपाठी पृ0सं0 161

से टोडियों द्वारा सजाया गया है।

मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्ति में हीरा लगा है जो मूर्ति की और भी ज्यादा सुन्दरता बढ़ाता है। मेहराबदार शैली पर आधारित यह मन्दिर अपने में अलौकिक तथा अनुपम है।

श्री बल्देवजी मन्दिर, पन्ना

बुन्देलखण्ड में भगवान विष्णु के अवतारों श्रीकृष्ण के साथ–साथ इनके बड़े भाई बलदाऊ जी की पूजा का भी प्रचलन है। यहां पर ऐसे कई मन्दिर है जहां श्रीकृष्ण के साथ बल्दाऊ जी की पूजा होती है। ऐसा ही यह पन्ना का प्रसिद्ध बल्देव मन्दिर है।

इस मन्दिर का निर्माण पन्ना नरेश नृपति सिंह के पुत्र "महाराज रूद्रप्रताप"[1] ने संवत 1933 में करवाया था।"[2] यह मन्दिर सभी मन्दिरों से अलग है। इसकी निर्माण शैली मिश्रित है। यह मन्दिर एक ऊँची जगती पर बना हुआ है। मन्दिर के प्रवेश द्वार के ऊपर त्रिकोणाकृति बनी है और यही आकृति चौखट के ऊपर निर्मित है। मन्दिर में पहुंचने के लिये सोपान पथ निर्मित है। मन्दिर के चारों कोने बाहर की ओर निकले हुये मीनार के आकार के है। मन्दिर की बाह्य दीवाल पर दो पंक्तियों में वातायन बने है जिनके ऊपर मेहराबदार आकृति बनी हुयी है। प्रत्येक वातायन की सीध में मन्दिर की छत पर उतने ही छोटे–2 गुम्बद (चार खम्बों वाले) बने हुये हैं। मन्दिर के गर्भगृह का शिखर सबसे ऊँचा तथा स्तूपाकार है।

---

(1) ओरछा का इतिहास — लछमन सिंह गौर — पृ०सं० 285

(2) स्मारिका, सन 2005 — रामराजा फिल्मस पन्ना एवं नगर पालिका परिषद पन्ना — पृ०सं० 14
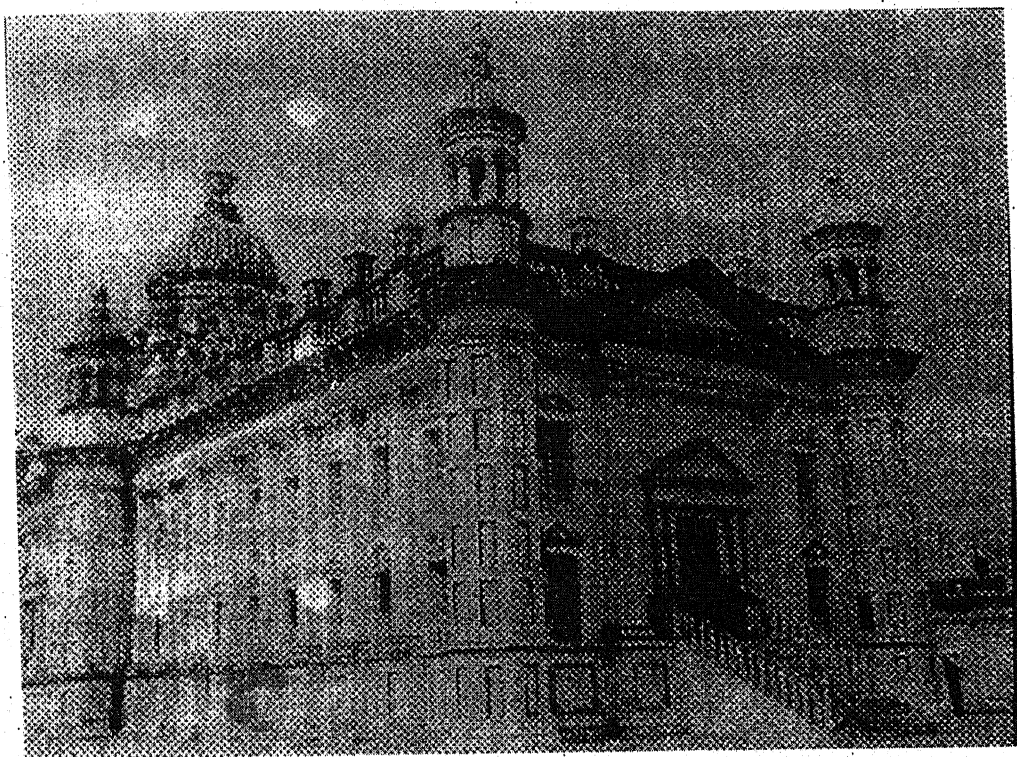
बल्देव जी मन्दिर, पन्ना
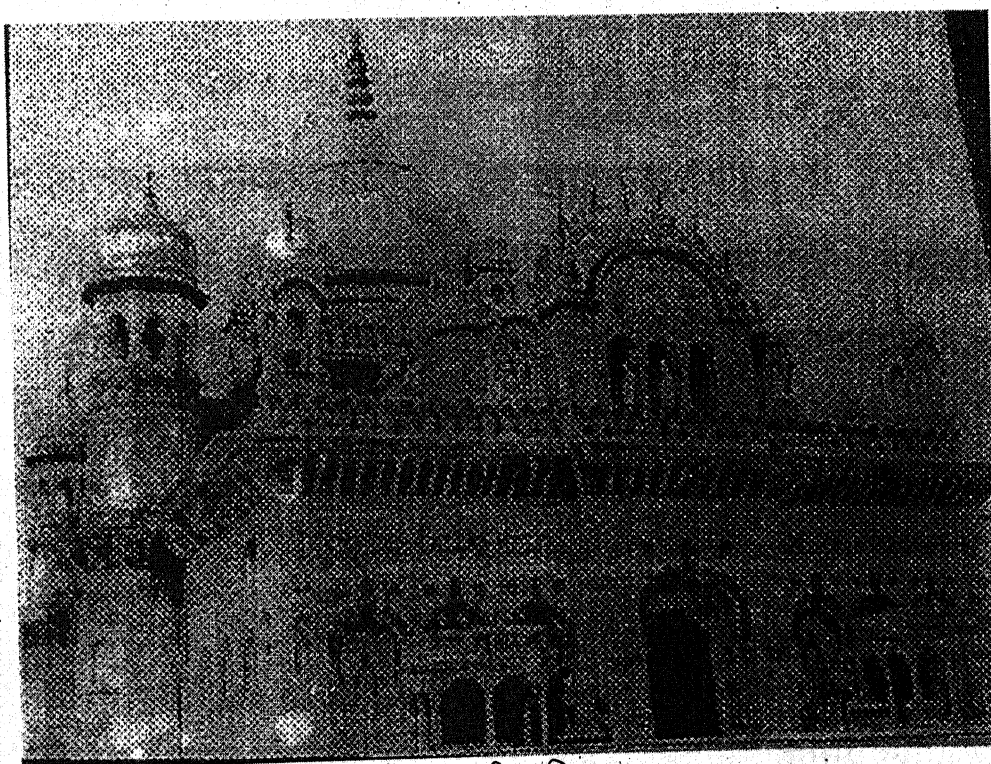
जगदीश स्वामी मन्दिर, पन्ना

जिसमें अनेकानेक अलंकरण हैं।

मन्दिर अपने आप में अलौकिक तथा भव्य है। जिसकों देखने से बुन्देली राजाओं की कला प्रियता का सहज ही अनुमान लग जाता है।

श्री जगदीश स्वामी मन्दिर, पन्ना

पन्ना का प्रसिद्ध जगदीश स्वामी जी के मन्दिर का निर्माण पन्ना नरेश "महाराज किशोर सिंह जू द्वारा सम्बत् 1874 में करवाया गया था।"(1) यह मन्दिर भगवान विष्णु को समर्पित है।

यह मन्दिर दुर्ग–मंदिर वास्तु शैली के मिश्रित रूप से निर्मित है। मंदिर में भरपूर अलंकरण है। मंदिर का प्रवेश द्वार मेहराबदार तथा इसके साथ ही स्तम्भ बने हुये हैं। प्रवेश द्वार के दांयी तथा बांयी ओर पुष्प का अलंकरण हैं मंदिर की बाह्य दीवाल पर प्रवेश द्वार के अलग–बगल तीन–तीन द्वार बने हुये हैं जो अलंकरण से युक्त हैं तथा द्वार के आगे एक छतरी बनी हुयी है, जो कि दुर्ग में बने बुर्ज के समान प्रतीत होती है। प्रवेश द्वार के ऊपर छत पर अर्द्धवृत्ताकार आकृति बनी है जिसमें सात नुकीले आमलक बने हैं जो देखने पर मुकुट के जैसा प्रतीत होता है। इस आकृति के दोनों कोनों में अलंकरण से युक्त दो बुर्ज बने हुये हैं। इस मन्दिर में गर्भगृह बीच में है जिसका शिखर सबसे ऊँचा है, जिस पर उल्टे कमल की आकृति अंकित है शिखर पर घुमावदार एवं सुराही नुमा कलश की आकृति है, जो किसी धातु द्वारा निर्मित है। गर्भगृह के शिखर के दांयी तथा बांयी ओर

---

(1) 'स्मारिका' महाराज छत्रसाल महावली सन 2005 रामराजा फिल्मस एवं नगर पालिका परिषद, पन्ना के सौजन्य से मुद्रक सुरेन्द्र ऑफसेट पृ०सं० 75

मीनार नुमा गुम्बद बने है तथा इनके साथ मन्दिर के पीछे वाले कोनों में भी ऐसी ही आकृति के गुम्बद बने हैं। मन्दिर का छज्जा दीवाल से टोडियों के द्वारा सधा एवं सजा है। मन्दिर में चटख रंगों के द्वारा एक सुन्दर स्वस्थ्य एवं सजीव चित्रकला का चित्रण है, जो मन्दिर की शोभा को और भी ज्यादा निखार देता है।

मंदिर देखने में अलौकिक, भव्य एवं सुन्दर है। मंदिर की निर्माण शैली मन्दिर वास्तु का अद्भुत उदाहरण है। जो कि बुन्देलखण्ड में किन्हीं स्थानों में देखने को मिलता है।

श्री रामजानकी मन्दिर

इस मन्दिर का निर्माण पन्ना नरेश लोकपाल सिंह जू देव की धर्म पत्नी द्वारा सन् 1895 में करवाया गया था। मन्दिर की शैली बहुत कुछ जुगलकिशोर मन्दिर से मिलती–झुलती है।

मन्दिर का प्रवेश द्वार मेहरावदार द्वार के दांयी तथा बांयी और छत पर छोटे–छोटे एक–एक मण्डप बने है। प्रवेश द्वार के ठीक ऊपर के की आकृति पन्ना के युगलकिशोर मन्दिर के जैसी है। मन्दिर का गर्भगृह बीच में हैं जिसकी शिखर सबसे ऊँचा है तथा शिखर के चारों ओर कमल पुष्प के पन्तो का अलंकरण है। मुख्य शिखर के दोनों ओर छोटे–छोटे शिखर बने है जो राजपूत शैली की छाप छोड़ते हैं। मन्दिर के शिखर पर घुमावदार आमलक स्थित हैं।

"मन्दिर के गर्भगृह में भगवान श्रीराम तथा माता सीता के साथ लक्ष्मण जी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।"(1) मन्दिर के एक कोने में रामभक्त हनुमान की प्रतिमा विराजमान है।

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन मोतीलाल त्रिपाठी पृ0सं0164

मंदिर की शैली तथा मूर्तियां दोनों ही बुन्देली कला की चरम सीमा की परिचायिका हैं। मन्दिर पर बने अलंकरण मंदिर की शोभा को और भी अधिक सुन्दरता प्रदान करते हैं।

मुरली मनोहर मन्दिर, झांसी

झांसी के इस मन्दिर का निर्माण मराठा काल में हुआ। यह मन्दिर वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के पति गंगाधर राव के बड़े भाई रघुनाथ राय के काल में बनवाया गया। यह मन्दिर झांसी के बड़ा बाजार के समीप गोपाल धर्मशाला से मिला हुआ है।

इस मन्दिर को 'बाई साहब' का मन्दिर भी कहते है क्योंकि महारानी लक्ष्मीबाई इसी मन्दिर में नित्य प्रतिदिन पूजा एवं आराधना करती थीं। लक्ष्मीबाई इस मन्दिर में प्रतिष्ठित मुरली मनोहर भगवान श्री कृष्ण का अशीर्वाद किसी भी कार्य के प्रारम्भ करने से पहले निश्चत लेती थीं। मन्दिर का द्वार अत्यधिक आकर्षक है। मन्दिर का प्रवेश द्वारा मेहरावदार तथा संगमरमर एवं चीनी तख़्तों से बना है। द्वार के ऊपर महारानी लक्ष्मीबाई का आकर्षक चित्र टंगा है। इस चित्र को झांसी के प्रसिद्ध चित्रकार श्री सज्जन लाल सक्सेना ने बनाया था। इस मंदिर के निर्माण काल से ही यहां के पुजारी मराठा ही हैं जिनके नाम क्रमशः कृष्णराव, लक्ष्मण राव, रामचन्द्र राव, कृष्णराव, रावचन्द्र भट्ट तथा वर्तमान में इन्हीं के वंशज पं० कृष्णराव''[1] जी हैं।

यह मन्दिर धार्मिक एवं सांस्कृति चेतना का प्रतीक है। त्योहारों एवं पर्वो पर इस मन्दिर को विशेष रूप से सजाया जाता है। विशेष रूप से सावन की

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन मोती लाल त्रिपाठी पृ०सं० 157–158

घटा इस मन्दिर में बड़े अलौकिक रूप से सुसज्जित की जाती है। झांसी में ये पर्व श्रावण मास में एकादशी से परवा तक मनाया जाता है। इस अवसर पर संगीत के सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया जाता है।

लक्ष्मीनारायण मंदिर, उरई

यह मंदिर उरई नगर के केन्द्र में माहिल तालाब के समीप में राजमार्ग पर स्थित है। "यह मंदिर लगभग 300–400 वर्ष पुराना है। इस मन्दिर का निर्माण बुन्देला स्वातंत्र युद्ध के अमर सेनानी महाराजा छत्रसाल के दत्तक पुत्र बाजीराव पेशवा के शासनकाल में हुआ।"[1]

यह प्राचीन मंदिर किले के भांति बना हुआ है। मंदिर का प्रवेश द्वार दक्षिणाभिमुख है, तथा इसी प्राचीर से मिले हुये उत्तराभिमुख कई कमरे बने हैं संभवतः यह मन्दिर कालान्तर में सभागार के रूप में प्रयुक्त होता था। मंदिर सड़क से लगभग 10 फुट की ऊँचाई पर है। गर्भगृह का द्वार पूर्वाभिमुख है और इसकी छत पर कमल के पुष्प की आकृति बनी है। गर्भगृह के ऊपर मठिया बनी है जिसके चारों ओर गुम्बद बने हुये है। मंदिर के चारो ओर छज्जा निकला है जो नीचे की दीवाल से लगे पत्थरों से सधा है। इस छज्जे के चारों ओर गुम्बद बने हैं जिनके बीच में अलग–अलग देवी–देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं जिनके ऊपर छत्र बना है।

सान्धार शैली से निर्मित इस मन्दिर के अर्चना मण्ड़प में तीन ओर पांच–पांच द्वार बने हुये हैं तथा इनके ऊपर वातायन निर्मित है। मन्दिर का अलंकरण सादा है। गर्भगृह में भगवान विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति के साथ भगवती लक्ष्मी की

---

(1) शोध प्रबन्ध 'जनपद जालौन के मध्यकालीन भवनों का ऐतिहासिक मूल्यांकन' पृ0सं0 120

द्विभंगी मुद्रा में मूर्ति प्रतिष्ठित है। दोनों ही मूर्तियां काले पत्थर से निर्मित है। गर्भगृह के दांयी ओर निर्मित आले में लाल बलुआ पत्थर से निर्मित गणेश जी की मूर्ति प्रतिष्ठित है तथा बांयी ओर वाले आले में पक्षीराज तथा भगवान विष्णु के वाहन गरूण की पाषाण की मूर्ति प्रतिष्ठित है। मंदिर में निर्मित कला–कृतियों, अलंकरण तथा मूर्तियां उस समय की कला की श्रेष्ठता की परिचायक है।

रामलला मन्दिर, कोंच

यह मन्दिर जालौन जिले के कोंच तहसील में स्थित है। मंदिर अत्यन्त प्राचीन है इसका निर्माण लगभग 300 वर्ष पूर्व मराठा काल में हुआ था। ''इस मन्दिर के प्रसिद्ध महात्मा महंत आत्मारामदास थे जो महारानी लक्ष्मीबाई के गुरू माने जाते हैं। इस मन्दिर का महत्व इसलिये अधिक है क्योंकि महारानी लक्ष्मीबाई ने झांसी से चलकर कोंच के इसी मन्दिर में वस्त्र आदि बदलकर युद्ध वेश धारण कर कालपी को प्रस्थान किया था।''[1]

मन्दिर का निर्माण चूना, पत्थर, एवं ईटों के द्वारा हुआ है। मंदिर के गर्भगृह के शिखर में चारों कोनों पर एक–एक छोटें मण्डप स्थित है। गोल शिखर के आधार पर कमल पत्रों अथवा नागफनों जैसे आकार के घुमावों से निर्मित है। मंदिर के गर्भगृह सामने पूर्व की ओर विशाल जगमोहन स्थित है। मन्दिर अपनी प्राचीनता और महारानी लक्ष्मीबाई के गुरू एवं इनके द्वारा मन्दिर में पूजा–आराधना के कारण प्रसिद्ध है।

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन मोतीलाल त्रिपाठी पृ०सं० 159

लक्ष्मीनारायण मंदिर, कालपी

जालौन जिले के ऐतिहासिक स्थल कालपी में इस मन्दिर का निर्माण सम्राट हर्षवर्धन ने करवाया था। यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण हैं यह मन्दिर कालपी के उदनपुरा नामक मुहल्ले में स्थित है।

जनश्रुतियों के आधार पर यह कहा जाता है कि यहां पर संत मैकूदास जी ने जीवन्त समाधि ली थी। अतः यह स्थल अत्यन्त सिद्ध माना जाता है। "मन्दिर पूर्वाभिमुख है तथा गर्भगृह के पश्चात् अन्तराल स्थित है। अन्तराल से लगा हुआ मण्डप है। इसका जीर्णोद्वार लगभग 500 वर्ष पूर्व हुआ था।"(1)

मन्दिर के गर्भगृह पर लगभग 1.5 फुट ऊँची भगवान लक्ष्मीनारायण की अत्यन्त प्राचीन युगल मूर्ति प्रतिष्ठित है। भगवान विष्णु की इस मूर्ति का विवरण श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है–

"देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
अविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुखि पुष्कलः।।
तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंख गदार्भुदायुधम्।
श्री वत्सलक्ष्मं गलशोभि कौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्र पयोद् सौभगम्।।"(2)

नृसिंह मन्दिर, एरण

मध्यप्रदेश के सागर जिले में एरण नामक स्थान पर अनेक मंदिरों के अवशेष मिले हैं। इन अवशेषों में तीन मंदिर गुप्तकालीन है। ये मंदिर गुप्त शासक

---

(1) गौरवशाली कालपी — डॉ० हरीमोहन पुरवार — पृ०सं० 39

(2) श्रीमद्भागवत — 10/3/8–9

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल के हैं।

कनिंघम के अनुसार यह मन्दिर "3.8 मीटर लम्बा तथा 3 मीटर चौड़ा था। सामने चार स्तम्भों पर एक मण्डप था। बीच के दो स्तम्भों में 1.36 मी0 और किनारे के स्तम्भ में एक मीटर का अन्तर था।"[1] ये स्तम्भ चबूतरे पर बने चिन्ह के द्वारा चौपहल से प्रतीत होते हैं। मन्दिर के गर्भगृह में नृसिंह की मूर्ति 2 मीटर से कुछ अधिक ऊँची प्रतिष्ठित थी। गुप्त कालीन अन्य मन्दिरों की तरह इसकी भी छत सपाट थी। छत का निर्माण दो शिला फलकों से हुआ था तथा इसके "स्तम्भ अलंकृत थे।"[2]

चतुर्भुज मन्दिर, जतकरी

खजुराहो से लगभग एक मील दूर जतकरी नामक ग्राम हैं। यह मन्दिर चन्देल कालीन है। जनश्रुति के आधार पर यह कहा जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण बनाफर सरदार आल्हा–ऊदल के भांजे सूजा ने कराया था।

वर्तमान में यह मन्दिर ध्वंसावशेष के रूप में स्थित है। इस मन्दिर की लम्बाई 40 फीट तथा चौड़ाई 20 है। इसकी ऊँचाई 44 फीट है। "गर्भगृह के मध्य में विष्णु की मूर्ति है और उसके दोनों ओर ब्रह्मा तथा शिव की मूर्ति है।"[3] विष्णु की विशाल मूर्ति 9फीट ऊँची है और इसका सिर नग्न है।"[4] मन्दिर की छत तथा दीवालों पर अनेक मूर्तियों का अलंकरण है।

---

(1) भारतीय वास्तुकला परमेश्वरी लाल गुप्त पृ0सं0 84–85

(2) भारतीय वास्तुकला का इतिहास के0डी0 बाजपेयी पृ0सं0 111

(3) खजुराहो के मन्दिरों पर एक विहंगम दृष्टि पूजा गुप्ता पृ0सं0 41

(4) आर्क्योलॉजी सर्वे रिपोर्ट भाग–10 पृ0सं0 22

वराह मन्दिर, एरण

एरण में निर्मित वराह मन्दिर गुप्तकाल में लगभग 485 –500 ई0 में बना था। वर्तमान में यह मंदिर भग्नावशेष के रूप में उपस्थित है। कनिंघम के अनुसार यह मन्दिर ''बारह मीटर लम्बा तथा छः मीटर चौड़ा था। मंदिर की छत के अवशेष भी नही है किन्तु गर्भगृह के दीवालों और मण्डप के अवशेषों से यह अनुमान लगाया जाता है कि इसके ऊपर सपाट छत का निर्माण था।''[1] मन्दिर के स्तम्भ बहुत अलंकृत थे। स्तम्भ नौ खण्डों में विभक्त थे। सबसे नीचे एक घट की आकृति जिससे लतायें बाहर निकल रही है। घट के नीचे रज्जुका है। ''घट के ऊपर लता पत्र की एक पतली पट्टी है और तब उसके ऊपर 1.9 मीटर भाग सोलह पहला है। इसमें चार दिशायों के चार पहलों में जंजीर युक्त घण्टे का अंकन है। ऊपरी भाग के प्रत्येक पहल में अर्द्धवृन्त बना है, इसके ऊपर उल्टा कमल घट है और फिर सबसे ऊपर वैसा ही पूर्ण घट है जैसा तल में बना है।''[2]

मंदिर के गर्भगृह के वराह मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की लम्बाई 4 मीटर चौ0 1 मीटर तथा ऊँचाई 3.4 मी0 है। इस मूर्ति पर हूणनरेश तोंरमाण के शासन काल के प्रथम वर्ष का अभिलेख है। अभिलेखानुसार मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने इसका निर्माण कराया था।

मदारि मंदिर, महोबा

उत्तर प्रदेश के महोबा ज़िला में यह मंदिर एक चट्टानी भाग पर

---

(1) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट — कनिंघम — पृ0सं0 85–86

(2) भारतीय वास्तुकला — परमेश्वरी लाल गुप्त — पृ0सं0 199

स्थित है वर्तमान में यह भाग्नावशेष मात्र है। यह मंदिर चंदेल नरेशों द्वारा ही बनवाया गया था। यह मंदिर भगवान श्री कृष्ण (मुरारि) को समर्पित है।

यह मंदिर 107 फीट लम्बा तथा 75 फीट चौड़ा है।''[1] इस मंदिर के पूर्वाभिमुख द्वार के सामने एक उप मन्दिर की नींव है जो सोलह वर्ग फीट की है। कनिंघम के अनुसार ''यह उप मन्दिर वस्तुतः बराह मन्दिर था।''[2]

विष्णु मन्दिर, एरण

एरण में निर्मित यह मन्दिर बराह मन्दिर के उत्तर दिशा में स्थित है। ''यह मंदिर बाहर से दस मीटर लम्बा तथा चार मीटर चौड़ा था, तथा अन्दर से यह केवल 5 मीटर लम्बा तथा 1.8 मीटर चौड़ा था।''[3] मन्दिर में गर्भगृह तथा मण्डप ही बने हुये थे। मण्डप दो बहु अलंकृत स्तम्भों पर बना था जिनकी टोडियों सहित ऊँचाई 4 मीटर थी। ये स्तम्भ वर्तमान में यथास्थान खड़े हैं गर्भगृह की दीवारें ध्वस्त हो चुकी हैं। इस मन्दिर का द्वार अभी सुरक्षित है जो काफी अलंकृत है। द्वार के सिर दल के बीच में गरूण का चित्र उत्कीर्ण है। द्वार शाखा का अलंकरण तीन भागों में बंटा हुआ है भीतरी भाग में कुण्डली बांधे सर्प की आकृति से मण्डित है, बीच के भाग में पुष्प अंकन है।

इस मन्दिर की भी छत सपाट थी। छत और दीवाल के बीच में अलंकरण युक्त पट्टी निर्मित थी। मन्दिर के गर्भगृह में 4 मी0 विष्णु मूर्ति स्थापित थी। ''मन्दिर में गज, सिंह तथा नारीमुख–अभिप्राय से अलंकृत स्तम्भशीर्ष उल्लेखनीय हैं।''[4]

---

(1) चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास अयोध्या प्रसाद पाण्डेय पृ0सं0 199

(2) आर्क्यो0 सर्वे रिर्पोट भाग–21 पृ0सं022

(3) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट भाग–10 पृ0सं0412

(4) भारतीय वास्तुकला का इतिहास के0डी0बाजपेयी पृ0सं0111

(स) वैष्णव सम्प्रदाय के विविध अवतार एवं मूर्तियां

वैष्णव सम्प्रदाय में ईश्वर को भक्ति के द्वारा प्राप्त करने पर बल दिया गया है। वैष्णव सम्प्रदाय के मुख्य देव भगवान श्री विष्णु भक्त की भक्ति के द्वारा ही प्रसन्न होते हैं तथा वह भक्त को अपनी शरण में ले लेते हैं। वैष्णव सिंद्धान्तों का गीता में सर्वोत्तम विवेचन मिलता है। इसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय स्थापित करते हुये भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का प्रतिपादन मिलता है। स्वयं विष्णु अवतारी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा।

वैष्णव सम्प्रदाय में अवतारवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तदनुसार जब–जब पृथ्वी पर पुण्यकर्मों का लोप होने लगता है, पाप बढ़कर पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, दैवीय शक्तियों पर आसुरी शक्तियों की विजय होने लगती है, ज्ञान का प्रकाश अज्ञान के अंधकार को मिटाने में अपने आप को असमर्थ अनुभव करने लगता है, ज्ञान पर शारीरिक बल की और बुद्धि पर धन बल की विंजय होने लगती है, अज्ञानी अपने आप को ज्ञानवान कहने लगते हैं तथा पापियों को मिटाने के लिये भगवान विष्णु स्वंय समय की मांग के अनुरूप रूप में अवतरित होते हैं। यह आवश्यक नहीं वे मानव के रूप में ही अवतरित हों अपितु वह समयानसार पशु–पक्षी के भी रूप में अवतार लेते हैं। उनके लिये न तो कोई जीव निकृष्ट है और न ही कोई जाति। सभी के रचियता, पालक और उद्धारक भगवान विष्णु ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उन्होनें हर रूप को अपने अवतार में धारण किया है परन्तु उद्देश्य सदैव एक ही रहा है भूमण्डल से पापाचार, अज्ञान आसुरी शक्तियों एवं खल प्रवृत्तियों का समूल विनाश।

हमारे धर्म शास्त्रों के अनुसार भगवान विष्णु के पृथ्वी पर अब तक तेईस अवतार हो चुके हैं तथा चौबीसवां अवतार कल्कि अवतार के नाम से कलयुग के अन्तिम चरण में होना है। वैष्णव सम्प्रदाय में इन चौबीस अवतारों में से मुख्य दस अवतारों की पूजा आराधना का विशेष प्रचार है। इन दस अवतारों का विवरण पुराणों में भी मिलता है जो इस प्रकार हैं–

1–मत्स्य अवतार

भगवान विष्णु के इस अवतार की कथा का 'मत्स्य पुराण' में विवरण मिलता है। इस कथा के अनुसार सत्यव्रत नामक एक अत्यन्त दयालु, क्षमाशील एवं धार्मिक राजा थे। एक दिन सुबह ये नदी में स्नान करने गये। स्नान के बाद इन्होंने सूर्य देव को जल चढ़ाने के लिये अपनी अंजलि में नदी का पानी भरकर अपनी अंजलि उठाई। उसमें हिलसा जाति की स्वर्ण वर्ण एक छोटी सी मछली आ गयी। राजा ने उसे पानी में छोड़ना चाहा तब मछली ने कहा "हे राजा नदी में बड़े–बड़े जीव हैं, बड़ा जीव अपने से छोटे जीव को खा जाता है, आप इनसे मेरे प्राणों की रक्षा कीजिये और अपने साथ ले चलिये।"[1] राजा ने मछली को उठाकर अपने कमण्डल में डाल लिया और अपने महल ले आये। दूसरे दिन उस मछली का आकार बढ़ गया, राजा ने आकार देखा तो मछली ने उनसे कहा हे राजन यह पात्र मेरे लिये बहुत छोटा है, इसमें तो मेरा निर्वाह नहीं होगा। राजा ने उस मछली को क्रमशः एक बड़े पात्र, कुण्ड, सरोवर और सरिता में रक्खा। परन्तु जब इस मछली के लिये सरोवर भी छोटा पड़ने लगा तो राजा ने उस विशाल मछली को समुद्र में छोड़ने

(1) विष्णु उपासना　　　　रामकृष्ण दास　　　　पृ०सं० 136–139

का निश्चय किया।

इस विशाल मछली को जब समुद्र में छोड़ने का निश्चय किया। मछली ने कहा आप मुझे मृत्यु के मुंह में क्यों ढ़केल रहे हैं इसमें मगर आदि बड़े जीवों का भय है। राजा ने आश्चर्य चकित होकर पूछा आप कौन हैं, देव, और इस रूप में आपका क्या प्रयोजन है। यह सुनकर मत्स्य रूप से भगवान विष्णु प्रकट हुये और उन्होंने बताया कि आज से ठीक सातवें दिन प्रलय है। तुम जाओं सप्त ऋषियों तथा समस्त भूमण्डल से सभी जीवों, अन्नों औषधियों आदि को सूक्ष्म रूप में लेकर सागर के किनारे आ जाना। वहां तुम्हें एक विशाल नाव तैयार मिलेगी। सबको नौका पर सवार करके भव–सागर को पार करना। यदि नौका डूबने की शंका हो तो मेरा स्मरण करना मैं इसी रूप में आऊँगा। ठीक सातवें दिन यही हुआ तथा नौका डूबने की शंका से राजा ने भगवान विष्णु का स्मरण किया भगवान मत्स्य रूप में प्रकट हुये तथा नागराज वासुकी भी नौका पर आ गये। वासुकी को रस्सी की तरह एक छोर नाव में तथा दूसरा छोर एक श्रृंगी विशाल मत्स्य के सींग से बांधकर भव सागर में विचरण करते रहे। प्रलय काल समाप्त होने के बाद सृष्टि चक्र क्रमानुसार बढ़ने लगा। बुन्देलखण्ड में इस अवतार के कोई भी स्वतंत्र मन्दिर एवं मूर्तियाँ प्राप्त नहीं होती है। इस अवतार का अंकन मन्दिरों की दीवालों पर मिलता है।

2–कूर्म अवतार

अहंकार, आलस्य एवं प्रमाद किस प्रकार किसी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र यहां तक कि देवताओं को भी दुर्बल, श्रीहीन एवं पराधीन बना देते हैं तथा किस प्रकार इन दुर्गुणों पर विजय पाकर तथा मन लगाकर लगातार अथक परिश्रम द्वारा पुनः पहले से भी अधिक शक्तिशाली एवं सम्पन्न बना जा सकता है इसका ज्वलन्त प्रमाण है भगवान विष्णु के कूर्म अवतार की कथा का पौराणिक आख्यान।

कथानुसार एक बार देवराज इन्द्र अपने ऐंरावत पर बैठकर देव लोक का भ्रमण कर रहे थे। महर्षि दुर्वासा उस समय वहीं थे। दुर्वासा ऋषि के पास फूलों की एकदिव्य माला थी जो उन्होंने इन्द्र को दी थी। इन्द्र ने वह माला अपने हाथी की सूँड़ में लपेट दी तथा हाथी ने वह माला नीचे गिरा दी। यह देखकर ऋषि ने इन्द्र को श्रॉप दिया हे मदान्ध इन्द्र! जिस प्रकार तूने मेरी दी हुई माला नीचे गिरायी है। इसी प्रकार तू और तेरा सम्पूर्ण वैभव, तेरे सभी देवता और त्रिभुवन श्रीहीन होकर पतन के गर्त में गिर जायेगें।

ऋषि के श्रॉप के कारण श्रीहीन देवता और शुक्राचार्य के श्रद्धालु सेवक दैत्यों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में देवताओं की पराजय हुयी। दैत्यों ने स्वर्ग पर अपना अधिकार कर लिया। इस पराजय से निराश होकर देवता भगवान विष्णु के पास गये। भगवान ने देवताओं को अपना बल एवं श्री की प्राप्ति हेतु समुद्र मंथन का रास्ता दिखाया। विष्णु ने कहा इस मंथन के लिये मंदराचल पर्वत की मथानी तथा वासुकी नाग को रस्सी के रूप में प्रयुक्त करें। किन्तु यह मंथन अकेले देवताओं के वश में नहीं था इसीलिये उन्होंने असुरों से संधि की तथा मंथन में निकलने वाली वस्तुओं का लालच दिया। मंथन के लिये मंदराचल पर्वत को समुद्र में रक्खा वैसे ही वो पर्वत डूबने लगा। देवताओं के आग्रह पर भगवान विष्णु ने एक विशाल कच्छप का रूप धारण किया तथा मन्दराचल को अपनी पीठ पर रख लिया जिससे आसानी से समुद्र मंथन हो सका।

"इस मथंन में अमृत तथा देवी लक्ष्मी सहित चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई।"[1] अमृत देवताओं को मिला जिससे उनकी खोई हुई शक्ति उन्हें पुनः वापस मिल गई। देवी लक्ष्मी चतुर्भुजी भगवान विष्णु के साथ क्षीर सागर में निवास करने लगी। बुन्देलखण्ड में इस अवतार के कोई भी स्वतंत्र मन्दिर एवं मूर्तियॉ प्राप्त नहीं होती है। इस अवतार का अंकन मन्दिरों की दीवालों पर मिलता है।

---

(1) प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति — के०सी० श्रीवास्तव — पृ०सं०823

वराह अवतार

भगवान विष्णु ने ये अवतार हिरण्याक्ष नामक राक्षस के भीषण अत्याचारों से पृथ्वी की मुक्ति एवं उस राक्षस का वध करने के लिये लिया था। कथानुसार ये राक्षस अत्यन्त उत्पादी, क्रूर, धर्म विरोधी थे। एक बार हिरण्याक्ष नामक राक्षस हाथों में अपना गदा लेकर स्वर्ग में पहुंच गया। जिसको देखकर सभी देव इधर–उधर भाग गये तथा कुछ देवता पृथ्वी पर आकर छिप गये। इस समय हिरण्याक्ष ने सभी देवों को संताप देते हुये पृथ्वी को जल के तल में कीचड़ के मध्य छिपा दिया। रसातल में पड़ी पृथ्वी भगवान विष्णु से अपने उद्धार के लिये प्रार्थना करने लगी। भगवान विष्णु ने सभी देवों सहित पृथ्वी के कष्ट को समाप्त करने के लिये एक अत्यन्त छोटे सूकर के रूप में परिवर्तित हो गये और फिर तुरन्त निरन्तर बढ़ते हुये उन्होंने विकराल सूकर का रूप धारण कर कीचड़ और गन्दगी के ढेर में फंसी हुई पृथ्वी को रसातल से बाहर निकालने तथा देवों को हिरण्याक्ष नामक राक्षस से मुक्ति दिलाने के लिये यह अवतार धारण किया।

बुन्देलखण्ड में विष्णु के इस अवतार की पूजा होती थी। यहां पर अनेक स्वतंत्र मन्दिर हैं जिनमें भगवान वराह की मूर्ति स्थापित है। "वराह मंदिर यहां एरण"[1] देवगढ तथा खजुराहो आदि स्थानों में निर्मित हैं।

बुन्देलखण्ड में वराह की दो प्रकार की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो नृवराह तथा पशुवराह की हैं। इनमें नृवराह की प्रतिमायें अधिक मात्रा में हैं। इस मूर्ति में वराह देव अपनी कुहनी से पृथ्वी को उठायें हुये हैं। ये दोनों प्रकार की मूर्तियां एरण से भी प्राप्त हुई हैं। पशुवराह की विशाल मूर्ति के पृष्ठ भाग पर अनेक

---

(1) आर्क्योलॉजी सर्वे रिर्पोट कनिंघम भाग–10 पृ0सं0 82–89
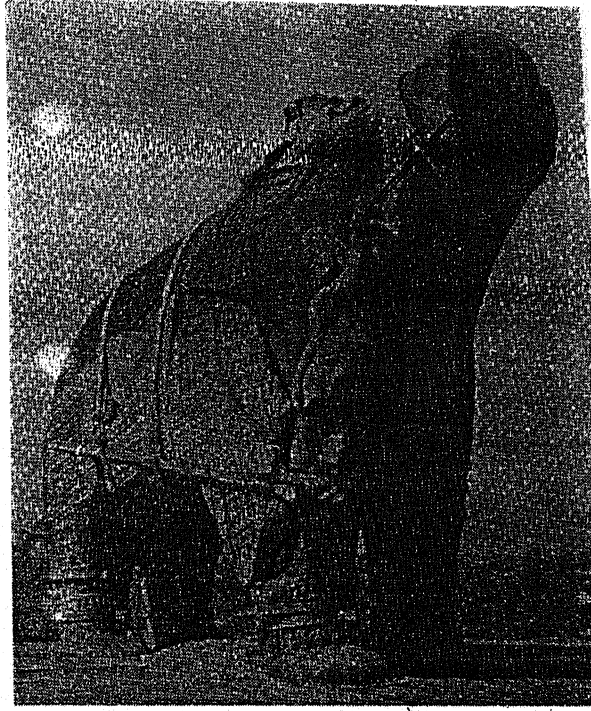
बराह अवतार

नृसिंह अवतार

देवी–देवताओं को उकेरा गया है तथा पृथ्वी थूथन के पास लटकती हुयी प्रदर्शित की गयी है। ''इस तरह की एक मध्यकालीन प्रतिमा''(1) झांसी से प्राप्त हुयी थी तथा वर्तमान में यह प्रतिमा लखनऊ संग्रहालय में है।

4–नृसिंह अवतार

पृथ्वी के उद्धार के समय भगवान विष्णु ने वराह का रूप धारण करके हिरण्याक्ष का वध किया। इस घटना से उसका बड़ा भाई हिरण्यकश्यप अत्यन्त रूट हुआ। उसने सहस्त्रों वर्ष तपस्या कर ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया। तब ब्रह्मा जी ने उसे वरदान मांगने को कहा। हिरण्यकश्यप ने अमर होने के उद्देश्य से वरदान मांगा, ''हे देव! न तो मैं शस्त्र से मरूं और न ही अस्त्र से। घर में भीतर अथवा बाहर, भूमि पर या आकाश में, दिन मे अथवा रात्रि में, किसी आदमी द्वारा या पशु द्वारा मेरी मृत्यु न हो।''(2) ब्रह्मा जी ने उसे यह वरदान दिया और चले गये। हिरण्यकश्यप अपने अमर होने के मद में चूर होकर समस्त पृथ्वी पर जवरदस्ती अपनी पूजा करवाने लगा तथा सबको प्रताणित करने लगा। इसके चार पुत्रों में सबसे छोटा प्रहलाद था। जो भगवान विष्णु का अंनत भक्त था। प्रहलाद के पिता ने उसे भगवान विष्णु की पूजा न करने के लिये अनेक प्रकार से दण्डित किया यहां तक कि उसे मृत्युदण्ड भी दिया परन्तु वह हमेशा विष्णु भगवान की कृपा से बचता रहा। इसके बाद हिरण्यकश्यप ने उसे एक खम्बे से बांधकर तलवार से काटना चाहा वैसे ही तुरन्त भगवान विष्णु नृसिंह रूप में अवतरित हो गये। इस रूप में आधा शरीर पुरूष का तथा मुख सिंह का था, हाथों में बड़े–बड़े नाखून तथा शरीर

---

(1) राजकीय संग्रहालय लखनऊ — मूर्ति संख्या — 81–166

(2) हिन्दू संस्कृति अंक — गीता प्रेस गोरखपुर — पृ0सं0799

पर बड़े—बड़े बाल थे। इस रूप से उन्होंने हिरण्यकश्यप को मारा तथा प्रहलाद की रक्षा की।

बुन्देलखण्ड में नृसिंह अवतार के मंदिर एरण, चांदपुर सहित अनेक स्थानों पर निर्मित थे। विष्णु के इस अवतार की प्रतिमायों के तीन प्रकार के अंकन मिले हैं—एकाकी नृसिंह रूप, भगवान नृसिंह हिंरण्यकश्यप का उदर विदीर्ण करते हुये और तीसरा राक्षस के साथ आमने—सामने युद्ध करते हुये। इनमें से प्रथम या तृतीय प्रकार की प्रकार की प्रतिमा यहां पर प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई हैं। ''रानी महल संकलन, झांसी की एक मूर्ति में नृसिंह हिरण्यकश्यप से लड़ते हुये दिखाये गये हैं। चतुर्भुज देव के दो अतिरिक्त हाथों में पाश है और दो से राक्षस को जकड़े हुये हैं। उनका मुख विस्फाटित है। राक्षस एक हाथ में खड़ग लिये लड़ने को तत्पर है।''[1]

5—वामन अवतार

एक समय बलि नामक राक्षस हुआ। ये अत्यन्त पराक्रमी तथा बलशाली दैत्य था। इसकी शक्ति इतनी बढ़ गयी कि उसने सम्पूर्ण संसार के साथ इन्द्रलोक तथा स्वर्ग पर भी अधिकार कर लिया तथा देवताओं को वहां से खदेड़ दिया। इन्द्र सहित समस्त देवता एवं ऋषि गण भगवान विष्णु की शरण में गये। भगवान विष्णु इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर सभी को साक्षात् दर्शन दिये और कहा कि बलि के संताप से मुक्ति दिलाने के लिये मैं कुछ समय में अवतार लूंगा।

कुछ समय पश्चात ''भगवान विष्णु ने केवल वावन अंगुल (लगभग

---

(1) *बुन्देलखण्ड का पुरातत्व* *एस0डी0 त्रिवेदी* *पृ0सं047*

एक मीटर) लम्बाई के बौने व्यक्ति का रूप धारण किया।"[1] दैत्यराज बलि उस समय अश्वमेघ यज्ञ कर रहा था। अन्य ऋषि–मुनियों के साथ भगवान वामन भी यज्ञस्थल पहुंच गये। बलि राक्षसी प्रवृत्तियों के साथ ही साथ अपने वचन का भी बहुत पक्का था और महादानी भी था। भगवान वामन दैत्यराज बलि के पास पहुंचे बलि ने उनसे कहा मै सहस्त्र दान देने के लिये तैयार हूँ। भगवान वामन ने कहा हे राजन मुझे केवल तीन डग भूमि चाहिये। राजा बलि ने उन्हें भूमि देने के लिये वचन दे दिया। भगवान वामन उसी समय अपना आकार आकाश से भी ऊँचा कर एक डग में पृथ्वी, दूसरे पग में स्वर्ग तथा इन्द्र लोक नाप लिया तथा तीसरे डग के लिये राजा से पूछा दैत्यराज बलि उनके सामने झुककर उनका तीसरा पैर अपने सिर पर रखने के लिये कहा। इस प्रकार भगवान ने देवों की रक्षा की।

बुन्देलखण्ड में इस अवतार के अनेक स्थानों जैसे–एरण, खजुराहो, चांदपुर आदि में स्वतंत्र मंदिर निर्मित थे। वामन अवतार की मूर्तियां भी इस क्षेत्र से अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियां दो प्रकार की मिलती हैं चतुर्भुजी मूर्ति जिसमें इनके हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म है और दूसरी मूर्ति छत्र के साथ। "विद्वानों का मत है कि द्वितीय प्रकार की प्रतिमायें बनाने का निर्देश अनेक शास्त्रों में मिलता है परन्तु इसप्रकार की स्वतंत्र प्रतिमा अभी तक नहीं मिली।"[2] इस मत के विपरीत इस क्षेत्र में कई प्रतिमायें मिली हैं जो राजकीय संग्रहालय झांसी तथा रानीमहल संकलन में संग्रहीत हैं। जिनमें देव छत्र को धारण किये हुये ब्रह्मचारी रूप में हैं। सिर पर मुकुट न होकर कुंचित केश विन्यास है। "झांसी के पठारी गांव के निकट से प्राप्त एक चतुर्भुजी वामन मूर्ति में उनकी मेखला से सम्बद्ध कटार प्रदर्शित की गयी है।[3]

---

(1) विष्णु उपासना — रामकृष्ण दास — पृ०सं० 147–149

(2) आइकनोग्राफी ऑफ विष्णु — कल्पना देसाई — पृ०सं० 99–100

(3) राजकीय संग्रहालय झांसी — मूर्ति संख्या 80–58

वामन अवतार

परशुराम अवतार

6–परशुराम अवतार

भगवान परशुराम को भगवान विष्णु को आवेगावतारमाना जाता है। यह अवतार विष्णु के अन्य अवतारों की तरह कार्य–सिद्ध होने के पश्चात लोप नहीं हुआ बल्कि अजर–अमर है। जिस प्रकार प्रत्येक युग में देवर्षि नारद प्रभु के भक्तों का मार्गदर्शन करते रहे हैं तो भगवान परशुराम ने भी प्रत्येक युग में अपने भक्तों की सहायता की है।

सतयुग में भगवान परशुराम ने यमदग्नि नामक ब्राह्मण एवं उनकी भार्या रेणुका के घर जन्म लिया। वसुभान, वसुषेण, वसु, तथा विश्वावसु भगवान परशुराम के बड़े भाई थे। प्रारम्भ से ही ये पितृभक्त थे। एक बार इन्होंने अपनी पिता की आज्ञा से अपनी मां सहित सभी भाईयों की हत्या कर दी थी। एक बार कीर्त्तवीर्य ने अपने सहस्त्र पुत्रों के साथ यमदग्नि का वध कर दिया। इस घटना से परशुराम अत्यन्त क्रोधित हुये। उन्होंने कीर्तवीर्य सहित उसके सहस्त्र पुत्रों का वध कर दिया। कीर्तवीर्य जाति से क्षत्रिय था। जिससे भगवान परशुराम ने क्षत्रिय जाति का ''इक्कीस बार विनाश किया।''[1]

भगवान परशुराम ने त्रेतायुग में भगवान राम द्वारा सीता स्वयंवर में शिव धनुष तोड़ने पर प्रताणित करने की चेष्टा की तो द्वापर में कौरवो तथा पाण्डवों के गुरू द्रोणाचार्य एवं उस युग के सर्वश्रेष्ठ धुनर्धर कर्ण को अस्त्र शस्त्र चलाने की शिक्षा दी।

बुन्देलखण्ड में भगवान विष्णु के इस अवतार के स्वतंत्र मंदिर नहीं थे, परन्तु मंदिरों की दीवालो पर इनका अंकन भगवान श्रीराम के साथ मिलता है। परशुराम की प्रतिमायें भी यहां से बहुत अल्प मात्रा में मिली हैं। ''राजकीय

(1) प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति के0सी0 श्रीवास्तव पृ0सं0 823

संग्रहालय झांसी में सुरक्षित एक शिलाखण्ड पर एक ओर राम तथा दूसरी ओर परशुराम की सुन्दर आकृति अंकित है।''[1]

7—श्रीराम अवतार

मानव के रूप में अवतरित होने के बाद साक्षात परमब्रह्म परमात्मा को भी किस प्रकार लौकिक मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। इसका ज्वलंत उदाहरण भगवान श्रीराम जी का जीवन चरित्र है। रामचन्द्र जी के जीवन चरित्र का ललित भाषा में वर्णन करने वाला महाग्रन्थ श्रीरामचरित मानस है।

भगवान विष्णु यों तो अंश रूप में अनेक बार पृथ्वी पर अवतरित हुये परन्तु श्रीराम जी उनके पूर्णावतार थे। इस अवतार में अपने प्रिय शेषनाग को भी अपने लघु भ्राता लक्ष्मण के रूप में अयोध्या नरेश दशरथ के महल में अवतरित हुये। विष्णु प्रिया लक्ष्मी जी इस अवतार में जनकसुता सीता के रूप में उनकी अर्द्धांगिनी बनी। ''इस प्रकार विष्णु लोक की ये तीनों शक्तियां स्वयं भगवान विष्णु महालक्ष्मी तथा शेषनाग श्रीराम के अनन्य भक्त और प्रिय सेवक के रूप में उनके सभी कार्य करने वाले पवनपुत्र हनुमान स्वयं भगवान शंकर के अवतार थे।''[2]

भगवान विष्णु ने वराह तथा नृसिंह का अवतार क्रमशः हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप नामक राक्षसों का वध करने के लिये लिया था। सनकादि ऋषि के श्रॉप के कारण जय—विजय नामक बैकुण्ठ के द्वारपालों के तीन जन्मों तक राक्षस के रूप में जन्म लेना था और अपने वचन के अनुसार तीनों ही बार उनका उद्धार विष्णु भवगान के हाथों से होना था। त्रेतायुग में जय—विजय अपने दूसरे राक्षस जन्म में

---

(1) राजकीय संग्रहालय, झांसी *मूर्तिकला* *81—166*

(2) विष्णु उपासना *रामकृष्ण दास* *पृ०सं० 159—161*
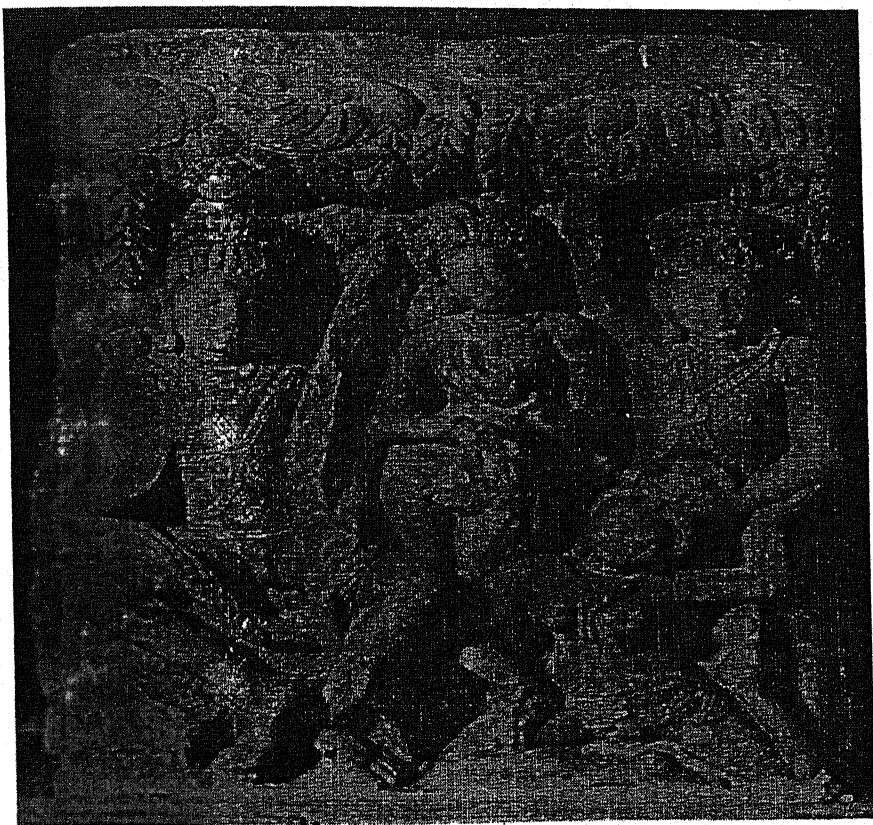
राम अवतार

रावण और कुम्भकर्ण के रूप में पृथ्वी पर अत्याचार कर रहे थे। श्रीराम ने इनका वध कर पृथ्वी को अत्याचारियों से मुक्त किया था।

बुन्देलखण्ड में श्री राम चन्द्र के अनेक स्थानों पर मंदिर बने है। जिनमें ओरछा, पन्ना, कोंच इत्यादि के मन्दिर ऐतिहासिक है। बुन्देलखण्ड में श्रीराम ज़ी की स्वतंत्र मूर्तियां भी कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं। "इनमें से कुछ राजकीय संग्रहालय, झांसी तथा रानी महल संकलन में देखी जा सकती है।"[1] यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि "राम और कृष्ण की लीला कथाओं से अंकित गुप्तकालीन"[2] तथा "मध्यकालीन शिला पट्ट इस क्षेत्र से प्राप्त हुये हैं।"[3] देवगढ़ से प्राप्त एक पट्ट पर लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का अंग भंग करना दिखाा गया है। लक्ष्मण बांय हाथ से राक्षसी का जूड़ा पकड़े है और दाहिने हाथ में तलवार लिये उक्त कार्य के लिये उद्यत हैं। दाहिनी ओर राम तथा मध्य में सीता का अंकन है।

8—श्रीकृष्ण अवतार

भगवान श्रीराम के ही समान श्री कृष्ण भी श्री विष्णु के पूर्ण अवतार माने जाते हैं। भगवान श्री कृष्ण का भी अवतरण जय—विजय की तीसरी और अन्तिम राक्षस योनि से मुक्ति दिलाने के लिये लिया था। भगवान विष्णु के इन दो

(1) बुन्देलखण्ड के मूर्तिशिल्प में राम, प्राच्य प्रतिभा अंक 9—10 एस0 डी0 द्विवेदी, पृ0 सं0 143—148

(2) अनपब्लिस्ड स्कल्पचर्स एण्ड टैराकोटज इन दि नेशनल म्यूजिम— आर0सी0अग्रवाल भाग—17 नं0 33—34, न्यू देहली एण्ड एलाइड प्रोब्लेम्स, ईस्ट बेस्ट, न्यू सीरीज

(3) खजुराहों की देव प्रतिमायें रामाश्रय अवस्थी पृ0सं0 112—113 तथा 114—124.

अवतारों के मध्य पूरे एक युग का अन्तर है। कृष्णावतार में भी श्री विष्णु के साथ उनकी भार्या लक्ष्मी जी अवतरित हुईं परन्तु ये उनकी पत्नी नहीं बल्कि प्रेयसी राध ा बनी। इस अवतार में शेषनाग भगवान के बड़े भाई बलराम के रूप में अवतरित हुये। शास्त्रों के अनुसर सूर्य वंश में जन्म लेने के कारण श्री राम को सूर्य की बारह कलाओं से युक्त माना जाता है तथा चंद्रवंशी होने के कारण श्री कृष्ण को सोलह कला से युक्त माना गया है। वर्तमान में कृष्ण को ऐतिहासिक पुरूष के रूप भी मान्यता प्राप्त है। श्रीकृष्ण के जन्म तथा जीवन चरित्र का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है इसके साथ ही सूरदास, मीराबाई, रसखान आदि भक्तिकालीन कवियों ने इनका गुणगान अनेक पदों एवं खण्डकाव्यों में किया है।

इस अवतार श्रीकृष्ण वसुदेव और देवकी के पुत्र के रूप में अवतरित हुये। श्री कृष्ण ने इस जन्म में "अनेक अलौकिक चमत्कार दिखाये, लीलायें की तथा कंस, जरासंध, पूतना, बकासुर आदि दैत्यों का वध किया"।[1] महाभारत के युद्ध में पाण्डवों का साथ देकर दुर्योधन तथा शिशुपाल जैसे अत्याचारियों का दमन किया और पृथ्वी पर सत्य, न्याय एवं धर्म को प्रतिष्ठित किया।

बुन्देलखण्ड सहित समस्त भारत में श्रीकृष्ण के अनेक मंदिर हैं। यहां पर श्रीकृष्ण को समर्पित मंदिरों में पन्ना, ओरछा, कालपी, आदि स्थानों के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीकृष्ण की द्विभंगी तथा त्रिभंगी मूर्तियों के साथ इनके बाल रूप लड्डू गोपाल की प्रतिमायों का विशेष महत्व है। इनके इस "अवतार की अनेक मूर्तियां रानी महल संकलन में संग्रहीत है।"[2]

---

(1) प्राचीन भारत की सभ्यता तथा संस्कृति — *के0सी0 श्रीवास्तव* — *पृ0सं0 823*

(2) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व — *एस0डी0 त्रिवेदी* — *पृ0सं0 48*

9—बुद्ध अवतार

भगवान विष्णु का ये अंशावतार माना जाता है। इस बार भूमि पर उत्पाद और अत्याचार दैत्य अथवा राक्षस नहीं कर रहे थे वरन धर्म की मनमानी व्याख्या करने वाले धूर्त, धर्म के गूढ़ रहस्यों को न समझ पाने वाले अज्ञानी तथा शक्ति के मद में चूर राजा तथा प्रभुता सम्पन्न वर्ग जिसका समाज पर एकाधिकार था, अत्याचार कर रहे थे। राक्षसों के समान इन आसुरी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों का समूल नष्ट करने की नहीं, इनके हृदय परिवर्तन की आवश्यकता थी। यही कारण है कि पृथ्वी पर अब तक का यह अन्तिम अवतार श्री विष्णु ने भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भिन्न रूप में ही लिया। वे गौतम बुद्ध के रूप में भारत भूमि पर अतवरित हुये।

गौतम बुद्ध का यह अवतार श्री विष्णु ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में शाक्यों के एक छोटे से गणराज्य जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी और यहां के राजा शुद्धोदन तथा इनकी पत्नी महामाया''[1] के पुत्र के रूप में लिया। इन्होंने धर्म की नवीन व्याख्या की तथा उस समय होने वाले पशु बलि तथा आडम्बर युक्त यज्ञीय विधि—विधान का विरोध किया। जो समाज में अपनी सहजता और सरलता के कारण प्रसिद्ध हुआ।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में बौद्ध धर्म की गिनी चुनी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।''[2] खजुराहो से एक बुद्ध मूर्ति प्राप्त हुई है। इस मूर्ति में महात्मा बुद्ध एकाशिंक संघाटी

(1) प्राचीन भारत का इतिहास झा और श्रीमाली पृ०सं० 150—151

(2) सिक्स स्कल्पचर्स फ्राम महोबा, मेम्बायर आफ आर्क्योलॉजिकल सर्वे संख्या —8 के० एन० दीक्षित
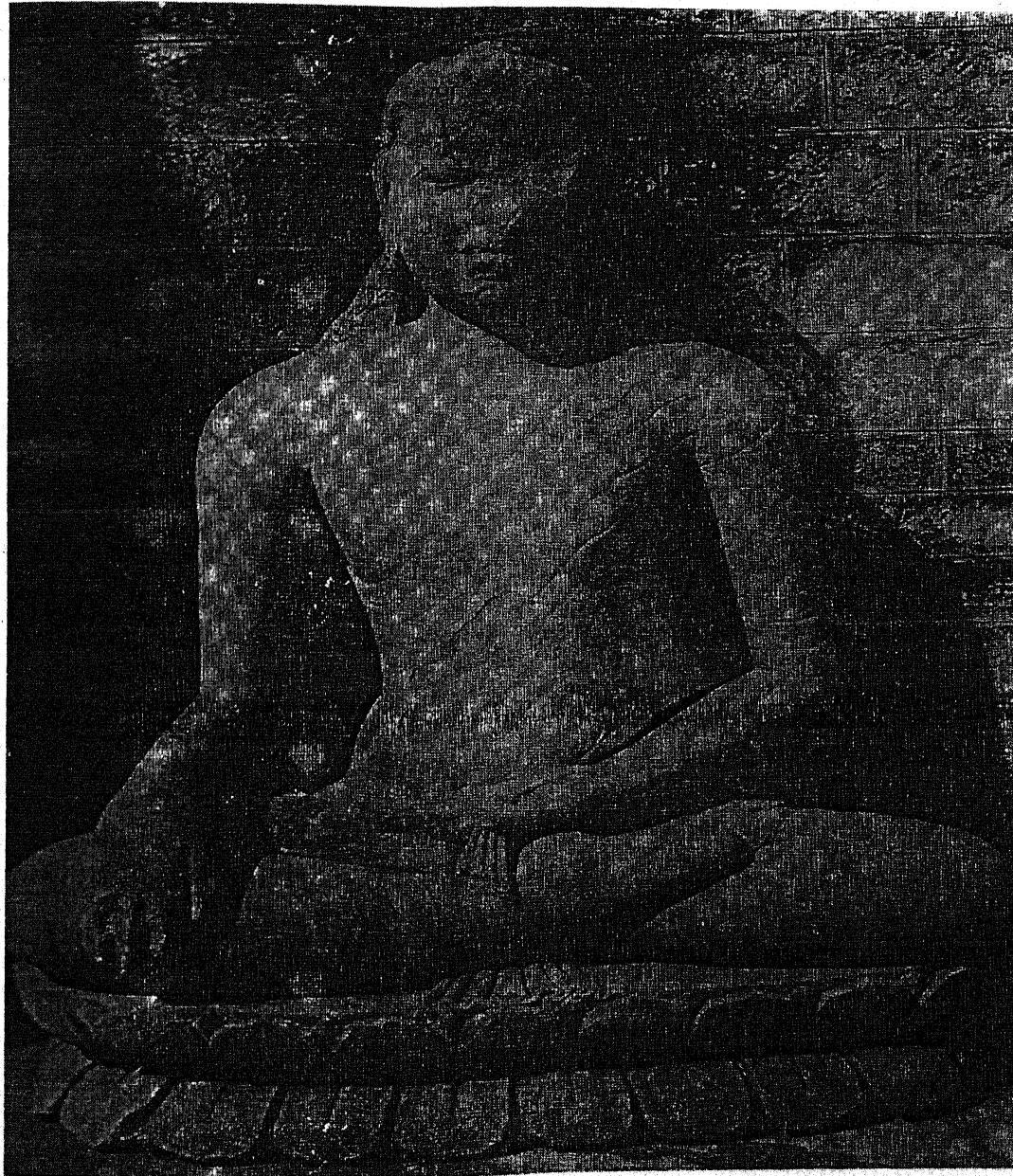
बुद्ध अवतार

धारण किये हुये हैं। इस मूर्ति के मस्तक का कुछ भाग नष्ट हो गया है। इस मूर्ति में वे ध्यानस्थ मुद्रा में अवस्थित है परन्तु दाहिना हाथ भूमि स्पर्श मुद्रा में है। नीचे सुन्दर पद्मासन है। एक कमल दल पर अभिलेख उत्कीर्ण है। यह मूर्ति लगभग दसवीं–ग्यारवहीं शताब्दी की है।

10–कल्कि अवतार

भगवान विष्णु का यह "भावी अवतार है।"[1] शास्त्रों के अनुसार कलियुग में जब पाप बहुत अधिक बढ़ जायेगें, पृथ्वी पापों का भार सहन करने में स्वयं का असमर्थ अनुभव करने लगेगी तब भगवान विष्णु पापियों का संहार करने तथाधर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिये भगवान कल्कि के रूप में भारत भूमि पर अवतरित होगें।

विद्वानों की ऐसी धारणा हैं कि श्री विष्णु भगवान कल्कि के रूप में "सम्भल नामक ग्राम में विष्णुयशा नामक ब्राह्मण के घर शिशु रूप में अवतरति होगें।"[2] यह बालक जन्म से ही परम तेजस्वी, धर्म–परायण अद्भुत पराक्रमी, सदाचारी एवं अत्यन्त बुद्धिमान होगा। कल्कि रूप में भगवान विष्णु "हाथ में तलवार लेकर श्वेत अश्व पर सवार होकर"[3] अधर्म का नाश करेगें, पापियों को दण्ड देगें तथा अधर्मी व्यक्तियों को धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगें।

इस प्रकार वे कलियुग का विनाशकर एक नये युग का सूत्रपात करेगें जो सत्य पर आधारित होने के कारण सत्ययुग कहा जायेगा तथा सृष्टि का चक्र दोबारा सत्ययुग से प्रारम्भ हो जायेगा।

---

(1) प्राचीन भारत का इतिहास द्विजेन्द्र नाथ झा, कृष्ण मोहन श्रीमाली पृ0सं0318

(2) 'हिन्दू संस्कृति अंक' कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर पृ0सं0 806

(3) प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति के0सी0 श्रीवास्तव पृ0सं0 824

भगवान विष्णु के इन अवतारों के अतिरिक्ति चौदह अवतार और भी है। ये अवतार निम्न हैं– (1) सनत्कुमार (2) नारद (3) नर–नारायण (4) कपिलदेव (5) दत्तात्रेय (6) यज्ञपुरूष (7) ऋषभदेव (8) महाराजा पृथु (9) भगवान हंस (10) धन्वत्तरि (11) विश्वमोहिनी (12) हयग्रीव (13) श्री हरि (14) वेदव्यास।"[1]

बुन्देलखण्ड से प्राप्त मूर्तियों में भगवान विष्णु के नारायण के साथ–साथ नर अवतार का अंकन देवगढ़ के दशावतार मंदिर के प्रथक–प्रथक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण हैं। इस अंकन में दाहिन ओर बैठे नारायण अपना ज्ञान रूपी प्रकाश नर रूपी अवतार को दे रहें हैं। इसके साथ ही मृगों और सिंह को एक साथ दिखलाकर तपोवन के सात्विक वातावरण का आभास दिया गया है। ऊपर बीच में ब्रह्मा तथा विद्याधर उड़ते हुये अंकित किये गयें हैं।

नर नारायण अवतार की प्रतिमा के साथ भगवान विष्णु की जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभ देव के अवतार की प्रतिमा भी यहां से प्राप्त हुयी है। यह प्रतिमा जनपद जालौन से प्राप्त हुयी है तथा यह लगभग दसवीं शताब्दी की है। इस प्रतिमा में "देव शांत भाव में ध्यानस्त रूप में अंकित हैं। उनकी लम्बी जटायें कन्धों पर पड़ी है। उनके कुंचित केशों के ऊपर ऊष्णीय हैं पृष्ठांकन में अलंकृत प्रभामण्डल था जो अब खण्डित हो गया है। आस पास की पटिया पर तेईस तीर्थकरों का अंकन रहा होगा।"[2] इस मूर्ति का सिंहासन अलंकृत है जिसमें बायी ओर कुबेर तथा दांयी ओर चक्रेश्वरी की आकृति अंकित है। मध्य में इनका प्रतीक वृषभ दिखाया गया है। कलात्मक दृष्टि से यह सुन्दर कृति है।

भगवान विष्णु के इन चौबीस अवतारों के अतिरिक्त चतुर्व्यूह के आधार पर इनकी मूर्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। "महाभारत के अनुशासन पर्व में विष्णु

---

(1) विष्णु उपासना — रामकृष्ण दास 'रसिक' — पृ०सं० 117–118.

(2) बुन्देलखण्ड का पुरातत्व — एस०डी० त्रिवेदी — पृ०सं० 55

के सहस्त्र नामों का उल्लेख हुआ।''[1] इन सहस्त्र नामों में चौबीस नाम अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये नाम क्रमशः केशव, नारायण, माधव, गोवन्दि, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध, पुरूषोत्तम, अधोक्षज, नृसिंह, अच्युत, उपेन्द्र, हरि तथा कृष्ण हैं। ये सभी प्रतिमायें खड़ी हैं। इन प्रतिमायों का कोई भी अंग झुका नहीं है। सभी मूर्तियां चार भुजायों वाली, किरीट, मुकुट तथा अन्य सुन्दर आभूषणों से सुसज्जित पद्मासन पर स्थित हैं। इन सभी प्रतिमायों में समानता होते हुये भी कुछ भिन्नता है और वह भिन्न–भिन्न हाथों में धारण किये जाने वाले आयुधों की हैं। इन मूर्तियों में अन्तर केवल शंख, चक्र, गदा और पद्म का विभिन्न हाथों द्वारा धारण किये जाने का है। आयुधों के धारण करने का क्रम ऊपर से दाहिने हाथ से प्रारम्भ होकर ऊपर के बांये हाथ की ओर जाकर नीचे के बांये हाथ से आकर नीचे के दाहिने हाथ पर आकार गोलाकार रूप में समाप्त हो जाताहै। जैसा केशव की मूर्ति का लक्षण है–

''ऊँ रूपः केशवः पद्म शंख चक्र गदाधरः''[2]

अर्थात् केशव के रूप में विष्णु अपनी ऊपर की दाहिनी भुजा में कमल, बांयी भुजा में शंख धारण करते हैं और नीचे की बायीं भुजा में चक्र तथा दाहिनी भुजा में गदा सुशोभित है। गरूड पुराण के अनुसार ''विष्णु अपनी ऊपर की दोनों भुजाओं में क्रम से शंख, चक्र तथा नीचे की भुजाओं में गदा तथा कमल धारण करते हैं।''[3] अग्नि पुराण के अनुसार – ''नारायण की मूर्ति में शंख, पद्म गदा तथा चक्र रहता है।''[4] ''गरूड पुराण में इसी क्रम को कमल, गदा, चक्र, शंख

---

(1) महाभारत अनुशासन पर्व 149/12–111

(2) अग्निपुराण 46/1

(3) गरूड़ पुराण 45/4

(4) अग्नि पुराण 48/6

के रूप में बताता है।"[1] इसी प्रकार आयुधों का क्रम अनेक ग्रन्थों में दिया गयाहै।
"रूपमण्डन में इन सबका क्रम निम्न प्रकार से है।"[2]

	(1) मूर्तियों के नाम	(2) ऊपर का दाहिना हाथ	(3) ऊपर का बायां हाथ	(4) नीचे का बांया हाथ	(5) नीचे का दाहिना हाथ
1.	केशव	शंख	चक्र	गदा	पद्म
2.	नारायण	पद्म	गदा	चक्र	शंख
3.	माधव	चक्र	शंख	पद्म	गदा
4.	गोविन्द	गदा	पद्म	शंख	चक्र
5.	विष्णु	पद्म	शंख	चक्र	गदा
6.	मधुसूदन	शंख	पद्म	गदा	चक्र
7.	त्रिविक्रम	गदा	चक्र	शंख	पद्म
8.	वामन	चक्र	गदा	पद्म	शंख
9.	श्रीधर	चक्र	गदा	शंख	पद्म
10.	हृषीकेश	चक्र	पद्म	शंख	गदा
11.	पद्मनाभ	पद्म	चक्र	गदा	शंख
12.	दामोदर	शंख	गदा	चक्र	पद्म
13.	संकर्षण	शंख	पद्म	चक्र	गदा
14.	वासुदेव	शंख	चक्र	पद्म	गदा
15.	प्रद्युम्न	शंख	गदा	पद्म	चक्र
16.	अनिरूद्ध	गदा	शंख	पद्म	चक्र

(1) गरूड पुराण 45/6

(2) रूपमण्डन अं0 36/21–28

17.	पुरूषोत्तम	पद्म	शंख	गदा	चक्र
18.	अधोक्षज	गदा	शंख	चक्र	पद्म
19.	नृसिंह	पद्म	गदा	शंख	चक्र
20.	अच्युत	पद्म	चक्र	शंख	गदा
21.	जनार्दन	चक्र	शंख	गदा	पद्म
22.	उपेन्द्र	गदा	चक्र	पद्म	शंख
23.	हरि	चक्र	पद्म	गदा	शंख
24.	कृष्ण	गदा	पद्म	चक्र	शंख

इन मूर्तियों की उत्पत्ति बहुत रोचक है। पुराणों में वासुदेव के छः गुणों को बताया गया हैं जो कि ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज हैं। वासुदेव से ही संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध इन तीनों देवों का प्रादुर्भाव हुआ है। इनमें अनिरूद्ध शक्ति एवं तेजपूर्ण हैं, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य गुण हैं। तथा संकर्षण ज्ञान तथा बल युक्त हैं। ये ही चारों मिलकर चतुर्व्यूह की रचना करते हैं।

अहिर्वुध्न्य संहिता में वर्णित है कि "इन्हीं चारों से अन्य रूप उत्पन्न होते हैं,"(2) जैसे–

अनिरूद्ध से– हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर

प्रद्युम्न से – त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर

संकर्षण से –गोविन्द, विष्णु, और मधुसूदन

वासुदेव से– केशव, नारायण और माधव

इस प्रकार चतुर्व्यूह के बारह रूप हो गये। तत्पश्चात् चतुर्व्यूह के ये चारों देव अपने अन्य रूप धारण करते हैं, जो क्रमशः "वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न

(1) प्रतिमा विज्ञान (वैष्णव पुराणों के आधार पर) डॉ0 इन्दुमती मिश्र पृ0सं0 126–127

(2) Element of Hindu Iconography vol. Ist T.A.G. Rao. P233-234

तथा अनिरूद्ध के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें वासुदेव से पुरूषोत्तम, संकर्षण से अधोक्षज, प्रद्युम्न से नृसिंह तथा अनिरूद्ध से अच्युत उत्पन्न होते हैं। बाद में पुरूषोत्तम से जनार्दन, उपेन्द्र, हरि तथा कृष्ण ये चारों देव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चौबीस की संख्या पूर्ण हो जाती है।''(1)

इन चौबीस मूर्तियों का रहस्य बताते हुये विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित हैं कि– ''इन विभिन्न मूर्तियों की भिन्न–भिन्न इच्छाओं की पूर्ति हेतु उपासना की जाती है। धर्म की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अनिरूद्ध की, अर्थ के लिये संकर्षण की, काम की प्राप्ति के लिये प्रद्युम्न की तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये वासुदेव की आराधना करते हैं। ये चारों मूर्तियां सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति करती हैं।''(2) रूपमण्डन के अनुसार– ''ब्राह्मण केशव, नारायण, माधव और मधुसूदन की आराधना द्वारा प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। क्षत्रिय मधुसूदन तथा विष्णु की पूजा करके अपना इष्ट प्राप्त कर लेते हैं। वैश्य सुख को प्राप्त करने के लिये त्रिविक्रम तथा वामन की आराधना करते हैं। शूद्र के लिये श्रीधर की पूजा कल्याण कारी बतलायी गयी है।''(3)

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि भगवान विष्णु के चौबीस अवतार एवं चौबीस मूर्तियां भक्तों की विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति करती हैं। वैष्णव सम्प्रदायों में भगवान विष्णु को प्रसन्न करने के लिये भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस सगुण भक्ति का साकार रूप हमें वैष्णव मन्दिरों में देखने को मिलता है। जहां पर भक्त गण अपनी भक्ति को विभिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं। भक्ति के इन्हीं विभिन्न रूपों को पूजा, अर्चना, उपासना साधना एवं आराधना इत्यादि कहा जाता है।

---

(1) Element of Hindu Iconography Vol.Ist T.A.G.Rao P. 233-234

(2) विष्णु धर्मोत्तर पुराण वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई 118/2–4

(3) Element of Hindu Iconography Vol. Ist T.A.G. Rao P. 238

(द) वैष्णव मंदिरों में साधना एवं आराधना

भारतीय संस्कृति जिसने आध्यात्म और संस्कृति की कुक्षि से जन्म लिया, वो संस्कृति अपने भव्य रूप में मंदिरों में परिलक्षित होती है। भक्ति एवं विभिन्न कलाओं का समन्वय हमें मन्दिरों में देखने को मिलता है।

ईश्वर तो एक ऐसी सत्ता है जो निर्विकार है निराकार है। कला श्रेष्ठ है। पत्थर जब मूर्ति का आकार लेकर मंदिरों में स्थापित हो जाते हैं तो निश्चित रूप से वे जीवन्त हो जाते हैं और उनमें हम उस ईश्वरीय सत्ता को साकार रूप में उपस्थित पाते हैं।

प्रारम्भ से ही मन्दिरों की एक वैभवशाली परम्परा रही है। जहां मनुष्य कुछ समय के लिये दुनियादारी से विरत होकर एकान्त में ध्यान व समूह में भजन–कीर्तन कर ईश्वर के निकट होने का अनुभव करता है।

हमारे धर्म में ईश्वर के समीप पहुंचने और उसकी कृपादृष्टि प्राप्त करने के कई साधन बताये गये हैं परन्तु इनमें से कुछ मार्ग तो अत्यन्त दुरूह एवं कष्टकर हैं तो कुछ इतने गूढ़ और रहस्यपूर्ण कि सामान्य मानव उन पर चलने की कल्पना भी नहीं कर सकता।

वर्तमान युग में यज्ञ एवं हवन आदि के लिये अधिक दान धन और समय चाहिये तो तप का कायाकष्ट सहन करना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं। ज्ञान मार्ग का अनुसरण कर गहन अध्ययन, मनन एवं चिन्तन द्वारा सत्य से साक्षात्कार तो किया जा सकता है, परन्तु शायद ईश्वर के निकट पहुंचना संभव नहीं।

आज के इस युग में जब जीवन एक मशीन बन गया है और मानव इस व्यवस्था का एक नगण्य जप–तप, यज्ञ और वैदिक कर्मकाण्ड करने की तो

कल्पना भी नही कर सकता वह ईश्वर का भजन उसके विविध चरित्रों का अध्ययन, विग्रह का पूजन आदि जैसे आसान कर्म ही कर सकता है। यही कारण है कि प्राचीन ऋषियों—मुनियों ने ईश्वर उपासना के इन विविध क्रिया—कलापों को भी उतना महत्व दिया है जितना तप और यज्ञ को। इन सभी क्रियायों को एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित कर उन्होंने नाम दिया आराधना।

इस कलिकाल में ईश्वर की प्राप्ति का सबसे सुगम मार्ग आराधना है। धर्मग्रन्थों में वर्णित है कि ईश्वर की कृपा दृष्टि पाने के लिये आराधना सबसे आसान और सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। आराधना के द्वारा जीवात्मा के अन्तःकरण की शुद्धि एवं परमात्मा के प्रति प्रेम विश्वास एवं श्रद्धा की वृद्धि होती है।

आज के युग में अधिंकाश व्यक्ति भजन, पूजन कीर्तन और साधना में अन्तर नहीं करते वे मन्दिर में जाकर भवगान के विग्रह के दर्शन एव पूजन को ही साधना समझते हैं। ये सभी कर्म साधना के एक भाग तो हो सकते हैं, परन्तु पूर्ण साधना नहीं। ''किसी भी कर्म को करने से पूर्व उसकी सम्पूर्ण चरणबद्ध प्रक्रिया, उसे पूर्ण करने के विधि—विधान के ज्ञान की आवश्यकता होती है परन्तु उस कर्म में हमको पूर्ण सफलता तब ही मिल सकती है जब उस कर्म के मर्म अर्थात् वास्तविक अर्थ व अभिप्राय का भी हमें ज्ञान हो।''[1]

अतः दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी विशेष कार्य को पूर्णतः सिद्ध करने हेतु विशेष नियम एवं अनुशासन से बद्ध की जाने वाली ईश्वर की पूजा साधना कहलाती है। वैष्णव मताम्बलम्बी ईश्वर की साधना किसी साधन (मंत्र, माला इत्यादि) के माध्यम से भी करते हैं। वैष्णव सम्प्रदायों में साधना करने के ये साध्य भक्त को भगवान के समीप पहुंचने में एक सीढ़ी का कार्य करते हैं।

मानव मन में प्रायः यह शंका उठती है कि ईश्वर तो निराकार,

---

(1) विष्णु उपासना — रामकृष्ण दास 'रसिक' — पृ0स0 9

अविनाशी, अनन्त और अदृश्य है तो उसकी सेवा, पूजा, साधना तथा आराधना कैसे की जा सकती है, ईश्वर के समीप कैसे बैठा जा सकता है। यदि हम ईश्वर को साकार ब्रह्म मानते हैं तो वह बैकुण्ठ वासी है तथा विभिन्न देवी–देवता अपने–अपने लोकों और स्वर्ग में निवास करते हैं, अतः इस पृथ्वी पर रहते हुये किस प्रकार उनकी सेवा, उपासना, साधना कर सकते हैं, उनके समीप कैसे बैठ सकते हैं।

इस समस्या का समाधान करते हुये हमारे शास्त्रों में वर्णित है कि यह सत्य है कि ईश्वर सर्वव्यापी होते हुये दृष्टिगोचर नहीं होता, उसकी शक्ति को तो महसूस किया जा सकता है, परन्तु स्वयं ईश्वर कहां है इसका निर्धारण मानव नहीं कर सकता। अतः स्थूल रूप से तो ईश्वर के निकट बैठना, उसकी सेवा करना अथवा अपने उपास्य का समीप्य प्राप्त करना संभव नहीं है। इसीलिये ईश्वर के समीप्य का हमें इस प्रकार का अनुभव होता है जैसे जब हमारा कोई प्रियजन हमसे काफी दूर होता है। तब हम उसके चित्र, उससे सम्बन्धित किसी वस्तु अथवा उसकी याद के सहारे ही अपने मन की आंखों से उसे देख लेते हैं। उसका और उसके कार्य–कलापों का ध्यान करके उसकी याद को ताजा करते हैं और अपनी शुभ–कामनाओं द्वारा उसे शक्ति प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार स्थूल रूप से तो वह व्यक्ति हमसे दूर होता है, परन्तु हमारा मन उसके पास होता है, हमारा उससे आत्मिक सम्बन्ध बना रहता है।

ठीक यही स्थिति भक्त और भगवान के सम्बन्धों के मध्य होती है। ईश्वर अगोचर, अविनाशी अखण्ड और निराकार तो है, परन्तु साथ ही सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक और भक्त वत्सल भी है। हम उसे देख नहीं सकते परन्तु उसकी शक्ति को महसूस कर सकते हैं। अतः हम उनके किसी प्रतीक, प्रतिनिधि तथा मूर्ति का ध्यान करके उनको महसूस करते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर का समीप्य पाने के लिये मन्दिर जाते हैं। जहां हमें उस ईश्वरीय सत्ता का आभास होता है, भगवान

के विग्रह रूपों का दर्शन करते हैं, और वह वातावरण भी मिलता है जिससे भक्त को भगवान के निकट होने का आभास होता है। ईश्वर के किसी भी प्रतीक की पूजा, सेवा, आराधना करने प्रभु चरणों में ध्यान लगाने और उसके विविध रूपों एवं कर्मो का गुणगान करने से हम ईश्वर के और अधिक निकट पहुंचते है। जिससें आत्मा और परमात्मा के मध्य दूरी मिटती है, और इस प्रकार हम प्रभु के निकटतर होते चले जाते हैं। भक्त और भगवान की यह निकटता ही साधना है।

भारत में साधना का पथ हमारे आदिकालीन साहित्य से ही निःसृत अथवा सम्बद्ध होकर अवछिन्न रूप से आजतक हमारे साथ चला आया है। इस साधना की अन्तिम परिणति, चरम सीमा, प्रधान लक्ष्य आत्म तत्व की प्राप्ति अथवा जीवन के चरम उत्कर्ष आनन्द की उपलब्धि है। उपनिषदों में इस अवस्था को 'भूमा' कहा गया है और कहा है–

''इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति

न चेदि ध्वेदीन्महती विनिष्टः''(1)

हमारे ऋषि–मुनियों ने साधना की कुछ विशेषतायें भी बतलायी हैं जो कि निम्न हैं–

जिस प्रकार वेदत्रयी अथवा ज्ञान, कर्म एवं उपासाना का संगम भारतीय साधना की एक विशेषता है, उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति की समन्विति भी। यह ठीक है कि, किसी समय प्रवृत्ति की प्रधानता रही है और किसी समय निवृत्ति की, परन्तु हमारे साधको ने प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति के सामंजस्य को सदैव आदर की दृष्टि से देखा है। उन्होंने आन्तरिक एवं बाहरी एकता का भी अनुभव किया है। यह भारतीय साधना की पहली विशेषता है।

साधना का एक अत्यन्त सामान्य रूप संध्या है, जिसका अर्थ है–अपने

---

(1) केन उपनिषद 2/5

लक्ष्य, अपने इष्टदेव का सम्यक् प्रकार से ध्यान करना। इस प्रकार की साधना में भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के समन्वय में भी साधक की दृष्टि रहती है। इसमे साधक अंगन्यास द्वारा अपनी इन्दियों को बलवान एवं यशस्वी बनाने की प्रार्थना करता है और परिमार्जन द्वारा उन्हें पवित्र बनाने की भावना में लीन रहता है। यही है प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर मोड़ना और निवृत्ति को प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना।साधना के क्षेत्र में प्रवृत्ति परायणता एवं निवृत्ति परायणता जब एक दूसरे से मग्न हो जाती हैं, तब साधक अपनी साधना के उच्चतम अवस्था में पहुंच जाता है। भारतीय साधना की यह दूसरी विशेषता है।

भारतीय साधना की तीसरी विशेषता है कि द्वैत में अद्वैत की स्थिति को हृदयंगम करना। समस्त विश्व मे विविधरूपता दृष्टि गोचर होती है। परन्तु इस विविधता के अन्तर से गया हुआ एक ही तार इसे एक रूप बनाये हुये है। यह एक तार आत्म तत्व है, जो स्वयं आनन्दरूप है। अनेक मनोवृत्तियों को धारण करने वाले मानव इसी एक तत्व की ओर जानबूझकर या अनजाने में चले जाते हैं। परन्तु सभी की आकांक्षा उसी आनन्दरूप में मिलने की है। आनन्द की ओर उन्मुख यह प्रवृत्ति विश्व के अनेक तत्वों को एक तत्व की ओर प्रेरित कर रही है। भारतीय साधकों ने बिना किसी अपवाद के, इस विविध रूपता में एकरूपता के दर्शन किये है।

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।"[1]

भारतीय साधना की चौथी विशेषता यह है कि प्रत्येक साधक अपनी अवस्था के अनुसार साधना कर सकता है। क्योंकि सभी प्राणी एक ही स्थिति में नहीं रह सकते हैं। इसीलिये अपनी सुविधा के अनुसार जो प्राणी जिस कोटि, या श्रेणी या स्थिति में है, वह साधक उसी स्थिति में रहते हुये साधना कर सकता है।

---

(1) कल्याण 'हिन्दू संस्कृति अंक' गीता प्रेस गोरखपुर पृ0सं0584

इसको यदि दूसरी तरह व्यक्त किया जाये तो कहा जायेगा कि वृत्त का केन्द्र है, परन्तु उसकी परिधि पर अनेक बिन्दु हैं और वे साथ एक–एक सीधी रेखा के द्वारा उस वृत्त के केन्द्र के सम्बद्ध है। जो बिन्दु जहां है, उसे वहां से किसी दूसरे बिन्दु अथवा उसके मार्ग का उल्लंघन नहीं करना पड़ता है। वह सीधे अपने स्थान से चलकर केन्द्र बिन्दु के साथ एक हो जाता है। इसी प्रकार जो प्राणी जिस अवस्था में है, वह वहीं से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

भारतीय साधना की पांचवी विशेषता यह है कि साधना में गुरू की महत्ता को स्वीकार करना। भारत में गुरू का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा माना गया है। वैसे तो सब गुरूओं का आदि गुरू वह परमतत्व ही है जिसे ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। पर साधना के क्षेत्र में गुरू से पर्याप्त सहायता मिल जाती है। पथ तो स्वयं साधक को ही पार करना पड़ता है, पर उस पथ को दिखलाने वाला और आवश्यकता पड़ने पर उस पथ पर हाथ पकड़कर आगे बढ़ाने वाला, एक समर्थ पथ–प्रदर्शक की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। और यह प्रथ प्रदर्शक कोई और नहीं बल्कि गुरू ही होता हैं। गुरू अविवेकी साधक के नेत्रों में ज्ञान का काजल तथा भक्ति का सुरमा लगाकर उसे विवेक सम्पन्न दृष्टा बना देता है। गुरू अपने साधक शिष्य के हाथों में दीपक देकर कहता है कि इसके प्रकाश में आगे बढ़े चलो। गुरू साधक को मार्ग में व्यवधान आने पर उसका समाधान करता है, और साधक को उसके गन्तव्य स्थल तक पहुंचा देता है।

गुरू के द्वारा बतलाये गये साधना के मार्ग पर चलना इतना सरल नहीं है। साधना करने से पूर्व साधक को अच्छी तरह से अपनी मानसिक एवं भौतिक तैयारी करना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि ईश्वर का सामीप्य पाने के लिये उसे रास्ते में अत्यन्त कठिनाईयों का सामना करना पड़ता हैं। साधक इन्हीं कठिनाइयों को यदि पार कर लेता है, उसका मन विचलित नहीं होता है, तो

निश्चय ही से ईश्वर की प्राप्ति होगी।

शास्त्रों में साधकों के लिये भगवान विष्णु की साधना के लिये कुछ विशेष नियमों का उल्लेख हुआ है, जो कि इस प्रकार है–

शास्त्रों में भगवान विष्णु की साधना के लिये प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त अत्यन्त फलदायक बतलाया गया है। ब्रह्ममुहूर्त में चार से छः बजे तक का समय ही विष्णु साधना के लिये उपयुक्त बताया है। शास्त्रों में विष्णु आराधना के लिये रात्रि के प्रारम्भिक पहरों को पूर्णतया वर्जित बतलाया है और इसके साथ ही मध्यान्ह अथवा तीसरे पहर की साधना के लिये निषेध है।

विष्णु साधकों के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे सुबह लगभग साढ़े तीन बजे अपनी शैय्या छोड़ दें, तथा तारों की छांव में ही अपने तन को एवं मन को स्वच्छ करके किसी शांत स्थान पर बैठकर भगवान विष्णु का ध्यान करें। अपने मन–मन्दिर में भगवान विष्णु की मूरत को बसाकर उनकी साधना करें। ब्रह्ममुहूर्त में साधना करना शास्त्रों का आदेश है ही साथ में व्यवहारिक दृष्टि से भी यह समय सर्वश्रेष्ठ रहता है। इस समय में साधना प्रारम्भ करने पर जब तक भगवान भास्कर उदित होते हैं, पक्षियों का कलरव तथा अन्य व्यक्तियों के क्रिया–कलाप प्रारम्भ होते हैं, तब तक साधक की साधना पूर्ण हो चुकी होती है। इससे साधक की साधना में न तो कोई व्यवधान पड़ता है और न ही साधक का मन इधर–उधर भटकता है।

इसके बाद साधना के लिये उचित स्थान का चुनाव करना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल में तो नगरों एवं ग्रामों से दूर वनों में आश्रम बनाकर ऋषि मुनि निवास करते थे, और वहीं श्री हरि का ध्यान एवं तप किया करते थे। ये साधक ग्रामों से इतनी दूर साधना करने के लिये इसलिये जाते थे क्योंकि ये स्थान कोलाहल से रहित शांत होते थे। परन्तु आज के युग में इन स्थानों पर

जाकर साधना करना अत्यन्त दुष्कर है। इसी कारण आज अधिकांश व्यक्ति अपने घर के किसी कमरे या शांत कौने में बैठकर ही हरि–भजन, उपासना और ईश्वर आराधना करता है। साधना करने के लिये मानव वर्तमान में अपने घर के पूजा स्थल या मन्दिरों में जाकर जहां भगवान के साकार रूप (विग्रह) के दर्शन, भजन और आरतियों के गायन, प्रभुचरित एवं उनके गुणों के श्रवण तथा धर्म चर्चा के साथ अपनी साधना करता है।

साधना मात्र शारीरिक क्रिया नहीं मुख्य रूप से मानसिक कर्म है। "कोई भी मानसिक क्रिया– ऐसा कार्य जिसमें मानव हृदय की सम्पूर्ण गहराई से जुड़कर अपने तन–मन की सुध–बुध तक भूल जाये।"[1] ऐसे कर्म किसी एकान्त में ही बैठकर पूर्ण किये जा सकते है। सामान्य पूजा पाठ तथा साधना में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि पूजा मुख्य रूप से एक शारीरिक कर्म है, कीर्तन सामूहिक रूप से की जाने वाली क्रिया, तो साधना ईश्वर से तादाम्य स्थापित कर उसे अपने पास साक्षात अनुभव करते हुये उसका आदर, सत्कार तथा सेवा करने का भावात्मक कर्म है। यही कारण है कि साधना के लिये स्थान का चुनाव बहुत सोच–समझकर ही करना चाहिये क्योंकि वातावरण का शांत और पवित्र होना साधना की प्रथम भौतिक शर्त है।

साधना करने के लिये स्थान चुनाव के साथ अपने तन, स्थान एवं उपादानों की स्वच्छता का भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि इन उपादानों की स्वच्छता का साधना से विशेष सम्बन्ध है। जब मानव अपने तन को साफ–सुथरा करेगा साथ ही नित्य– प्रतिदिन स्वच्छ वस्त्रों को धारण करेगा तो उसका हृदय एवं मन भी स्वच्छ होने लगेगा। साधना के लिये तन के साथ मन की स्वच्छता भी नितांत आवश्यक है।

---

(1) विष्णु उपासना   रामकृष्ण दास   पृ०सं०65

श्री विष्णु समदर्शी हैं, वे सभी को एक ही दृष्टि से देखते हैं। पाप–पुण्य अच्छा–बुरा, स्वच्छ–अस्वच्छ सभी ईश्वर द्वारा ही निर्मित है और कण–कण के भगवान विष्णु का वास है। परन्तु कुछ मानवों के मन में यह बात आती है कि भगवान विष्णु समदर्शी है तथा कृपालु हैं फिर वे गन्दे व्यक्ति के पास गन्दगी में क्यों नहीं आ सकते है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये विद्वानों ने कहा है कि जिस पर प्रभु की रंचमात्र भी कृपा है, जिसकी भावना पवित्र और हृदय भक्तिभाव से ओतप्रोत हो वह जानता है कि प्रभु को मलीनता नहीं स्वच्छता प्रिय है। देवताओं तथा विज्ञ पुरुषों के सदृश्य ही भगवान विष्णु को मलीनता, अस्वच्छता तथा दूषण अर्थात हर प्रकार की गन्दगी से घृणा है। मलीन हृदय वाले व्यक्तियों के हृदय में जिस प्रकार दिव्य गुणों का संचार नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार मलीन स्थानों पर भी भगवान आना कम पंसद करते है। अतः साधना स्थल एवं प्रयोग किये जाने वाले समस्त उपादानों की प्रतिदिन पूर्ण स्वच्छता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

इनके अतिरिक्त साधक को अपने खान–पान, रहन–सहन एवं दिनचर्या में भी संयम बरतना आवश्यक है। भगवान विष्णु परम वैष्णव हैं। मांस, अण्डे जैसे हिसांत्मक भोजन, मदिरा और अन्य मादक पदार्थो का सेवन करना तो दूर इनके बारे में सोचना भी वर्जित है। मांस–मदिरा का सेवन मानवों का नहीं दानवों का भोजन है। भोजन के लिये जीव हत्या करने वाले हिंसक तो श्री विष्णु के प्रिय हो ही नहीं सकते। इनके साथ ही साधक को प्याज–लहसुन जैसे भोजनों, पान–तम्बाकू तक के सेवन से दूर रहना आवश्यक है।

साधक एवं समस्त वैष्णव जनों को सात्विक भोजन ही करना चाहिये। क्योंकि "जैसा खाये अन्न वैसा होय मन"[1] यह केवल एक लोकोक्ति नहीं बल्कि जीवन का परम सत्य है।

---

(1) लोकोक्ति

साधक को अपनी साधना में पूर्ण फल प्राप्त के लिये प्राणायाम व योगाभ्यास करना भी आवश्यक बतलाया गया है। क्योंकि साधना एक मानसिक कर्म है। जिसमें सफलता प्राप्ति के लिये मन की एकाग्रता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यदि साधना करते समय साधक का मन हरि–चरणों में स्थिर रहने के स्थान पर इधर–उधर भटक रहा है, तो वह साधना वास्तविक साधना नहीं, एक नाटक (ढ़ोंग) मात्र बनकर रह जायेगी। लौकिक मानसिक कर्मों की सम्पूर्ण सफलता में भी मन की एकाग्रता एक महत्वपूर्ण भूमिका निवाहती है। जबकि श्री विष्णु भगवान की उपासना तो एक अलौकिक, अध्यात्मिक और मानसिक क्रिया है। अतः जब तक मन एकाग्र और पूर्ण रूप से समर्पित नहीं होगा तब तक साधना करना असंभव है।

चंचलता मन का स्वाभाविक गुणधर्म है। अतः इसके शमन के लिये कुछ विशेष प्रयास करना आवश्यक है। विभिन्न प्रकार के योग के आसन मन को एकाग्र करने के सबसे सशक्त माध्यम हैं। साधना करने के लिये भी एक निश्चित आसन लगाकर बैठना पड़ता है। प्रारम्भ में लगातार एक ही आसन में बैठना और मन को भी चंचल न होने देना कुछ दुष्कर प्रतीत होता ही है। यही कारण है कि वास्तविक साधना प्रारम्भ करने से पूर्व योग के इन आसनों की उपयुक्त जानकारी एवं एक आसन में लगातार बैठने का अच्छा अभ्यास होना चाहिये।

भगवान विष्णु की साधना करने के लिये साधक अपनी सुविधा, अभ्यास एवं रूचि के अनुकूल कोई भी आसन का चुनाव कर सकता है। इन आसनों में पद्मासन, सिद्धासन एवं पालथी लगाकर सुलभासन में से किसी एक का उपयोग अधिक श्रेयस्कर हैं। साधना के लिये बैठते हुये साधक का सम्पूर्ण शरीर, गर्दन एवं सिर सीधा कर सरल रेखा में लम्ववत् रहना चाहिये। आसन पर स्थित होकर बैठने के बाद अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करके और मन को श्री हरि–चरणों में लगाना चाहिये। मन को एकाग्र करने के लिये भगवान

के रूप का ध्यान और उनके नाम का जप तुरन्त फलदायक होता है।

इन सभी आसनों के ज्ञान के साथ ही साधक को मंत्रों को भी शुद्ध रूप में याद एवं उच्चारित करना भी परम आवश्यक है। शास्त्रों की मान्यता है कि मंत्र में देवता निवास करते हैं। ये मंत्र देवताओं का सूक्ष्म एवं निर्गुण रूप होते हैं। ये मंत्र देवताओं के आह्वान का माध्यम हैं। साधना के प्रारम्भ में भगवान को मंत्रोच्चार द्वारा ही अपने पास बुलाया जाता है, मन्त्रों द्वारा ही उनकी पूजा की जाती है, और मंत्रों के द्वारा ही उन्हें विविध वस्तुयें अर्पित की जाती हैं। यही कारण है कि मंत्रों को एकदम शुद्ध रूप में उच्चारित करना साधना की प्रथम शर्त है।

जिस प्रकार टेढ़ी नींव पर सीधी दीवाल नहीं बन सकती ठीक उसी प्रकार साधना के बारे में पूर्ण ज्ञान न होने पर साधना का फल प्राप्त नहीं हो सकता। साधना का मार्ग तपस्या की अपेक्षा अत्यन्त सीधा–सादा और सुगम है। क्योंकि तपस्या में कठोर काया कष्ट सहना पड़ता है। इस सरल सुगम मार्ग पर चलने के लिये लक्ष्य प्राप्त करने के लिये मानव को इसकी कुछ शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तैयारी तो करनी ही पड़ती है। साधक सहित समस्त मानव जाति को अपनी कमियों को दूर करने और गुणों को विकसित करने की चेष्टा हमेशा करनी चाहिये।

इस कलियुग में भगवान विष्णु का ध्यान एवं साधना सभी लौकिक एवं अलौकिक फलों को देने एवं अन्त में मोक्ष दिलाने वाली पूजा पद्धति है। बुन्देलखण्ड में प्राप्त भगवान विष्णु की प्रतिमायें और मंदिरों से यह स्पष्ट होता है कि यहां प्राचीन काल से ही इनकी पूजा, साधना एवं आराधना की जाती है। ये मूर्तियां तथा मन्दिर हमारी संस्कृति की अनमोल धरोहर तथा सांस्कृति चेतना के केन्द्र हैं। इन्हीं पूजा पद्धतियों तथा परम्पराओं को और भी मजबूत करने में लोक विश्वास तथा लोक धर्म का भी विशेष योगदान है।

पंचम अध्याय

(अ) लोक एवं संस्कृति

प्रारम्भ से ही बुन्देलखण्ड के निवासी धार्मिक प्रवृत्ति के रहे हैं। इसका कारण यह है कि बुन्देलखण्ड में धार्मिक स्थानों की कमी नहीं थी। ये धार्मिक स्थान आज भी हमें उसी रूप में प्राप्त हैं। बुन्देलखण्ड को भारत का हृदय स्थल कहा गया है एवं वैज्ञानिकों ने विन्ध्याचल को हिमालय से भी पुराना बताया है। इस प्राचीनता को देखते हुये यहां की धार्मिक भावना भी पुरातन एवं कलान्तर में उच्च शिखर पर थी। यहां भगवान विष्णु के अवतार श्री राम ने चित्रकूट में बारह वर्ष व्यतीत किये, जिसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में किया है। इसीलिये अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा वैष्णव सम्प्रदाय बुन्देलखण्ड के लोक में अत्यधिक लोकप्रिय है।

जो धारण किया जाए वही धर्म है। धार्मिक भावना प्रबल होने के कारण ही व्यक्ति अपना हित समझ कर उसे धारण करता है। धर्म में लोगों की भावनायें छिपी रहती हैं। वैष्णव धर्म के कारण ही यहां की मान्यतायें एवं विश्वास यहां के लोक जीवन में पूरी तरह से दूध में मिठास की तरह घुले मिले हैं। वैष्णव धर्म संसार से निर्लिप्त रहने की प्रेरणा देता है तथा संसार को नश्वर जानकर ही हमें उससे दूर रखता है। वैष्णव सम्प्रदाय सांसरिक मोहजाल में नहीं फंसने देते बल्कि इन जालों में फंसे हुये लोगों को बाहर निकालने में सहायक सिद्ध होते है। इसी कारण यहां का जन जीवन एक दूसरे के दुख दर्द में सहानुभूति पूर्वक अपनी भागीदारी सुनिश्चित करता है तभी तो कहा जाता है कि

"वैष्णव जन तो तैंने कहिये
जे पीर पराई जाने रे।।"

इनको सैदव स्मरण में रखने लिये ही जगह-2 विष्णु मंदिरों का निर्माण किया गया। जो कि यहां के लोगों को सदैव धर्म की ओर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देते रहते हैं। वैष्णव मंदिर किन्हीं कट्टर सिद्धान्तों का अनुपालन या कर्मकाण्डों का आडम्बर नहीं है

बल्कि एक प्रेम की भावना हैं जिससे प्रेरित होकर मनुष्य दूसरों के दुख दर्द से आहत होकर उसके दुख निवारणार्थ अपना आत्म बलिदान तक कर देता है। इसी भव से प्रेरित होकर उरई के राजा माहिलशाह के पुत्र वीर अभई महोबा में अपनी फुफिया बहिन की रक्षार्थ पृथ्वी राज चौहान से युद्ध कर वीर गति को प्राप्त हुये। यह एक ऐसी शक्ति है जा बुराईयों से मुक्त करती है। वैष्णव धर्म की गहराईयों में हमेशा जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण रहता है जिसमें त्याग और उत्सर्ग की भावना सान्निहित रहती है।

यद्यपि हमारे यहां तैंतीस करोड़ देवी–देवताओं की कल्पना की गई है किन्तु भगवान विष्णु को बुन्देली लोक में अत्यधिक महत्व दिया गया है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण हर घर में 'ऊँ जय जगदीश हरे' की आरती गुंजायमान होती है। वैष्णव धर्म मनुष्य को सामाजिकता हेतु आवश्यक ज्ञान देता है जिससे वह समाज में प्रेम की रस धारा के पवाह में सहायक सिद्ध होता है धर्म के क्षेत्र में जिज्ञासा तो बनी रहती है साथ ही साथ अटूट श्रद्धा व विश्वास को भी बढ़त मिलती है। धार्मिक प्रवृन्ति के कारण मन में उत्पन्न घृणा प्रेम में बदल जाती है।

धर्म शब्द बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत लोक में प्रचलित रीति–रिवाज, विश्वास और विचार धारायें सम्मलित हैं। वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित लोक के रीति–रिवाज, लोक–विश्वास, लोकधर्म पर्याप्त रूप से प्राप्त होते हैं।

प्राचीन ऋषि–मुनियों ने मानव को सभ्य सुसंस्कृत एवं आचरण की सीमा में बद्ध करने के लिये वेदों और पुराणों की रचना की।इसी के अन्तर्गत अनेक व्रत, त्यौहार, पर्व आदि धर्म के अंग बने। मनुष्य को सामाजिक बनाने के लिये पूर्वजों का पूजन भी प्रारम्भ हुआ। जिसके चलते मनुष्य इतना श्रद्धावान हो गया कि उसका कोई भी कार्य धर्म की सीमा से बाहर न होकर सामाजिक उन्नति में सहायक होने लगा। जैसा कि विदित है कि धर्म का जन्म भय की कुक्षि से हुआ है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने दैनिक कार्यो में भी ईश्वरोपासना करने लगा। धर्म के नाम पर जीव पूजा, प्रकृति पूजा,

जल पूजा, पशु–पक्षी पूजा, वृक्ष पूजा तथा लोक में प्रचलित अन्याय पूजा आदि का विधान स्वीकार करने लगा। ऐसा करने पर उसे अपने दैनिक कार्यों के बीच उत्पन्न होने वाले व्यवधानों का समाधान स्वतः परिलक्षित होने लगता है। वास्तव में यह कुछ अंश तक सही भी है। इसी कारण आज भी बुन्देली लोक में मानव–जीवन धार्मिक हो गया। जिसके उदाहरणार्थ आज भी प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में भगवान का पूजन आवश्यक अंग हो गया है। शुभ कार्यों के पहले भगवान के मंदिर में थापे लगाये जाते हैं। ये थापे कई प्रकार के होते हैं। मन्दिरों में मनौती मानने के लिये उल्टे थापे लगाये जाते हैं जिन्हें कार्य पूरा होने पर सीधा किया जाता है अर्थात् सीधे थापे लगाये जाते हैं।

विवाहोपरान्त नवयुगल दम्पत्ति वैष्णव मंदिर में पांच थापे लगाते हैं, जिनका तात्पर्य यह होता है कि यह कार्य पांच देवों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ है। इसी प्रकार अन्याय अवसरों पर वैष्णव मंदिरों में थापे लगाये जाते हैं। अन्य लोक विश्वास भी इसी आधार पर समाज में प्रचलित हैं। जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हुये वर्तमान समय में परम्परा के रूप में प्रचलित है। क्योंकि भारत की अधिकांश जनता गांवों में निवास करती है। ग्रामीण अंचलों में शिक्षा का पर्याप्त विकास न होने क कारण इन लोक–विश्वासों को धर्म से जोड़ दिया गया। इन लोक–विश्वासों में कुछ लोक–विश्वास विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते हैं किन्तु अशिक्षा के कारण उन्हें धर्म से जोड़ दिया गया ताकि धर्म भीरू लोक जन उन्हें बिना किसी आलोचना के अपने जीवन में अपना कर अपना व समाज का भला करने में सहायक सिद्ध हों।

बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिरों में भगवान विष्णु से सम्बन्धित प्रत्येक त्यौहार उत्सव के रूप में बड़े धूम–धाम से मनाये जाते हैं। इन त्यौहारों का प्रारम्भ हिन्दू पांचाग के अनुसार नव सम्वत् चैत्र से ही हो जाता है। सबसे पहले राम नवमी का त्यौहार आता है। रामनवमी के दिन बुन्देलखण्ड के प्रत्येक वैष्णव मंदिर में खूब सजावट होती है। यहां के श्रद्धालु मंदिरों मेंमध्यान्ह 12 बजे से पहले ही पहुंचने लगते हैं। मंदिरों में स्थापित

श्रीराम, सीता, लक्ष्मण की प्रतिमाओं को इस दिन विशेष रूपसे सजाया जाता है और अनेकानेक आभूषणों से अलंकृत किया जाता है। यहां राम जन्म का आयोजन दोपहर 12 बजे किया जाता है। जन्म के साथ ही भगवान की आरती उतारी जाती है तथा प्रसाद के रूप में पंचामृत तथा बालभोग के साथ फल मिष्ठान आदि का वितरण किया जाता है।

इसी प्रकार यहां के वैष्णव मंदिरों में श्री कृष्ण के त्यौहार का आयोजन होता है। कृष्ण जन्माष्टमी भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मनाया जाता है। इस दिन मंदिरों में भारी सजावट के साथ –2 झांकिया भी सजाई जाती हैं। इन झांकियों में चित्रों के अलावा छोटे–2 बच्चों को कृष्ण एवं राधा का रूप धारण करवाया जाता है। कृष्ण के जीवन की बाल लीलाओं का सुन्दर एवं सजीव प्रदर्शन किया जाता है। इस दिन भगवान श्री कृष्ण का जन्म रात्रि मे 12 बजे किया जाता है। कृष्ण जन्म की लीला को यहां दर्शाया भी जाता है। भगवान कृष्ण की छोटी सी प्रतिमा (लड्डू गोपाल) को एक खीरे को चीरकर उसमें रख दिया जाता है तथा सूती धागे से लपेट दिया जाता है। इसके बाद खीरे से उस प्रतिमा को निकाल कर पंचामृत में स्नान कराया जाता है और फिर उस प्रतिमा को सिंहासन या झूले में रख कर आरती उतारी जाती है। श्रद्धालुओं को वही पंचामृत तथा बलाभोग वितरित किया जाता है, जिसमें भगवान की प्रतिमा को नहलाया जता है।

वैष्णव त्यौहारों में दीपावली एवं होली का पर्व भी यहां के मंदिरों में खूब धूमधाम से मनाये जाते हैं। दीपावली त्यौहार का प्रारम्भ सर्वप्रथम वैष्णव मन्दिर में घी के दिये जलाकर ही होता है। होली का त्यौहार भगवान विष्णु के भक्त प्रेम की याद में मनाया जाता है। इस दिन भी सभी श्रद्धालु मंदिरों में जाकर भगवान को गुलाल लगाते हैं और मंदिर के परिसर में रंग विखेरते हैं। इसी के साथ ही त्यौहार का प्रारम्भ होता है।

वैष्णव मंदिरों में मनाये जाने वाले इस व्रत त्यौहारों से यहां की संस्कृति के दिव्य दर्शन होते हैं, और इन्हीं क्रिया–कलापों तथा मनाने के ढंग लोक धर्म में समाहित है, और इस लोक धर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने में लोक विश्वासों का भी

महत्वपूर्ण योगदान है, और ये सभी गतिविधियां जहां सुचारू रूप से चलती हैं वह लोक विश्वास है।

लोक, संस्कृति, लोकधर्म तथा लोकविश्वास एक माला के ऐसे मनके हैं जो आपस में इस प्रकार गुम्फित हैं कि उनको एक दूसरे से अलग करके आगे बढ़ना शायद दुष्कर कार्य है। विश्वास जहां धर्म का आधार है वहीं दोनों संयुक्त रूप से संस्कारों का आधार बनते हैं सुसंस्कारों से आवेष्ठित सभी कृत्य लोक जीवन की संस्कृति का निर्माण करते हैं।

'लोक' शब्द की उपर्युक्त अर्थच्छायाओं में, कतिपय परिभाषायें आधुनिक अर्थ की सीमा में आती हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह अर्थ अंग्रेजी 'फोक' की अर्थ व्यापित से कहीं न कहीं जुड़ा है। भारोपीय आर्य भाषा परिवार के अन्तर्गत 'लोक' और 'फोक' दोनों की अर्थ परम्परायें एक ही मूल से विकसित हुई प्रतीत होती हैं। अतः दोनों के अर्थों में किसी सीमा तक साम्य होना स्वाभाविक है, इनकी अर्थपरम्परायें अलग–अलग अवश्य विकसित हुई हैं किन्तु भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विचारपूर्वक देखा जाय तो दोनों मूलतः एक ही भाषा परिवार से विकसित होने के कारण पर्याप्त मेल में है।

आर्य ग्रन्थों में लोक का अर्थ व्यापक विराट आदि अर्थो में प्रयुक्त हुआ है आंग्ल भाषा में लोक के लिये फोक (FOLK) शब्द का प्रयोग किया जाता है। जो कि एंग्लोसेक्सन शब्द (FOIC) से व्युत्पन्न हैं जर्मन भाषा में इसका (VOLK) रूप मिलता है। यूरोप की भाषाओं में वर्तनी तथा उच्चारण में भिन्नता होने के कारण इसके रूपान्तर प्राप्त होते है। इन्साइकलोपीडिया पाश्चात्य विद्वानों ने विशेषतः नृतत्व शास्त्री, जाति शास्त्री, समाजशास्त्री, विद्वानों ने फोक शब्द का प्रयोग किया है। उनके लिये फोक ग्रामीण, असभ्य और असंस्कृत मानव समूह था। "हेडेन रिवर्स, रेडक्लिफ, सिजविक आदि आदिम समाज, वैचित्रय पूर्ण रीति–रिवाजों जादू–टोनों में विश्वास रखने वाले दुर्गम, जंगलों पहाड़ों और अल्पज्ञात वासियों को ही फोक के अन्तर्गत परिगणित किया जो विकसित सभ्यता

के प्रभाव और अनुकरण से अलग थे, वे मुख्य धारा में नहीं थे. अविशिष्ट थे, अपेक्षित हैं।"[1]

इन्साकिलोपीडिया विट्रेनिका 1953 खण्ड में फोक का अर्थ है ग्रामीण समुदाय। भारतीय विद्वानों ने भी इस अनुवाद के ही अर्थ में लोक को देखा है। "लोक का तात्पर्य सर्वसाधारण जनता एवं दीन–हीन, दलित, शोषित, पतित, पीड़ित, लोग और जंगली जातियों कोल, भील, संथाल, गोंड, नाग,शक, हूण, किरात, पुक्कस, यवन खस इत्यादि सभी लोक समुदाय मिलकर लोक संज्ञा को प्राप्त होता है।"[2] लोक को फोक अर्थ नहीं मानते हुयेलोक को व्यापक अर्थ में ही देखा गया परन्तु लोक शब्द अत्यन्त व्यापक और सम है। यह ब्रह्म की ही तरह अनन्त अक्षर और असीम है, जीवन का प्रतीक है और जनका पर्याय है।

लोक सीमा केवल ग्राम या साधारण जनता ही नहीं ऐसा संकीर्ण अर्थ तो बहुत बड़ी साहित्यिक ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक भूल का द्योतक है।"[3] गांव तथा गांव की अनपढ़, बनेचर, असभ्य समाज ही लोक का पर्याय हैं।

भारत में पाश्चात्य सभ्यता के पांव पसारने से ही गांव और नगर जैसे दो स्थान हो गये हैं। ग्राम लोक का पर्याय है, नगर से उपेक्षित स्थान विशेष के रूप में ग्राम का चित्रांकन मानवीय संस्कृति के पतन का प्रतीक है। "यह ग्राम और नगर का आवरण समाप्त होते हुये सम्पूर्ण भारत को आत्मवाद, ईश्वरवाद, आस्तिकता को एक सूत्र में बांधती है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुये भू–भाग पर पनपता हुआ भारतीय समाज लोक है।"[4]

इस प्रकार वर्तमान समय में लोक के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत मिलते

---

(1) 'स्मारिका' लोक कला संग्रह — डॉ0 शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव — पृसं0 20

(2) सम्मेलन पत्रिका — डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल — पृ0सं0 67

(3) सम्मेलन पत्रिका — लक्ष्मीधर बाजपेयी — पृ0 सं0 112

(4) सम्मेलन पत्रिका — श्रीराम पाल — पृ0सं0 87

हैं एक वह जो फोक को लोक मानते हैं, और उनके अनुार लोक आदिम, असभ्य,बनेचर तथा ग्राम्य जीवन है, जो नगरीय सभ्यता से दूर जंगलों पहाड़ों पर निवास करते हैं। दूसरे लोक को व्यापक, समग्र राष्ट्र या सम्पूर्ण जन समुदाय मानते हैं। भारतीय साहित्य और संस्कृतिके प्रकाण्ड विद्वान डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कुछ संचित रहता है, लोक राष्ट का स्वरूप है। लोक धात्री सर्व भूता माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे जीवन का आध्यात्म शास्त्र है।"[1] इसी विचार को डॉ0 विद्या निवास मिश्र ने अपने शब्दों में प्रकट करते हुये कहा है कि "लोक देश का ही एक अनुभाविक रूप हैं इस प्रकार लोक अपने में विशाल अर्थ समेटता है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन की अवधारणा में लोक विराट परिकल्पना में परिलक्षित है। लोक को ग्राम, नगर, जंगल, पहाड़ जैसे स्थानों में बांटना अनुचित है।"[2]

वास्तव में लोक शब्द की अपनी परम्परा तथा भावबोध है, जिसके कारण यह अन्य शब्दों की अपेक्षा 'फोक' शब्द के समीप ही नहीं, वरन् उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ अर्थ रखने वाला भी है। अतः 'फोक के लिये 'लोक' शब्द ही समीचीन है।

लोक शब्द इतना व्यापक है कि उसे शब्दों में बांधना आसान नहीं है। लोको का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाला मानव ही सर्वदर्शी होता है अर्थात लोक जीवन जो अनुभूति के स्तर पर हृदयगंम करता है,मानव चक्षु से देखता–परखता है वह सर्वदर्शी बन जाता है।

"प्रत्यक्ष दर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः"[3]

लोक का अर्थ है 'प्रकाश' उसका अर्थ है इन्द्रिय गोचर संसार।

---

(1) सम्मेलन पत्रिका डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल पृ0सं0 67

(2) सम्मेलन पत्रिका डॉ0 विद्यानिवास मिश्र पृ0 सं0 70

(3) लोक कला दर्पण राष्ट्रीय कला महोत्सव स्मारिका डॉ0 विद्यानिवास मिश्र वी0 203 ओटी आर भवन, विधान सभा रोड, लखनऊ, उ0 प्र0

"इन्द्रिय अनुभव का जो भी विषय है वह अनुभव अकेले पर्याप्त नहीं होता यही सही है क्योंकि सब कुछ प्रत्यक्ष नहीं होता।"[1]

"हलायुध कोष में लोक का एक अर्थ मनुष्य है– सम्पूर्ण मनुष्य जाति और आप्टे के संस्कृत में अंग्रेजी कोष में भी इसके प्रजा समूह और संसार जैसे अर्थ बतायें हैं।"[2]

"लोक शब्द संस्कृत के लोक–दर्शने धातु में धञ् प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न है।"[3] जिसका अर्थ है 'देखना'। "लट् लकार अन्य पुरूष एक वचन में 'लोकते' रूप बनता है जिसका अर्थ है देखने वाला। अतः समस्त दर्शक जन–समुदाय 'लोक' है।"[4]

शब्द कोषों के अनुसार– "इसके दो मुख्य अर्थ वर्ग में से प्रथम या तो आकश, पाताल, मत्युलोक या इहलोक, परलोक आदि का या जनसामान्य अथवा जनसाधारण का बोधक है।"[5] यही द्वितीय अर्थ वर्ग ही प्रस्तुत प्रकरण में अभिप्रेत एवं मान्य है। "इसी का तद्भव हिन्दी रूप 'लोग' है। किन्तु इससे आधुनिक 'लोक' शब्द के पूर्ण अभिप्राय व्यक्त नहीं होता।"[6]

लोक ही सब कुछ है, लोक से पर कुछ भी नहीं है। लोक से इतर कोई स्थान नहीं है। हम लोक से ही आते है, लोक में ही रहते हैं, लोक में ही जाते हैं अर्थात् "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ संचित रहता है।"[7]

---

(1) 'लोक कला दर्पण — डॉ० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

(2) स्मारिका — डॉ० सुरेश गौतम

(3) सिद्धान्त कौमुदी (वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1989) — पृ०सं०417

(4) हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, षोडस भाग, प्रस्तावना — पृ०सं० 1

(5) महाभारत (उद्योग पर्व) सिद्धान्त कौमुदी — पृ०सं० 43–36

(6) हिन्दी साहित्य कोष — धीरेन्द्र वर्मा — पृ०सं० 686

(7) हिन्दी विश्व कोष — पृ०सं० 367

लोक शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार लोक–दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे अवलोकन में 'बिलोक' में लोक इसी देखने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'अ' उपसर्ग के साथ जुड़कर आलोक बन जाता है और वह उस प्रकाश का द्योतन करता है जिसके माध्यम से हम वस्तु या सृष्टि को ठीक–ठाक देख सकते है।

धार्मिक ग्रंथों, पुराणों, संस्कृत ग्रन्थों में बार–बार लोक शब्द का प्रयोग हुआ, जिसका अर्थ समस्त संसार से ही लगाया जाता है। ईश्वर के नामों की श्रृंखला में त्रिलोकीनाथ नाम आता है, जिसका अर्थ है तीनों लोकों के नाथ। अर्थात् त्रिलोक का अर्थ है– पृथ्वी लोक, आकाश लोक, पाताल लोक है।

लोक शब्द का अर्थ पूर्ण–रूपेण व्यक्त करना कठिन है। लोक भारतीय बांग्मय का एक बहुत प्राचीन शब्द है और अनेक कार्यो में इसको व्यवहृत किया जाता रहा है।

शब्द कोषों के अनुसार–"लोक के दो ही प्रमुख अर्थ है प्रथम त्रिलोक जिसके अन्तर्गत पृथ्वी, आकाश, पाताल या दूसरे शब्दों में इहलोक, परलोक शब्दों का ही प्रयोग जन सामान्य या जन साधारण का बोधक है।"[1]

ईसा पूर्व से ही इस शब्द का प्रयोग भारतीय बांगमय में होता रहा है।

प्रयोग की दृष्टि से इस शब्द की प्राचीनता को सभी ने एक मत से स्वीकार किया है। वेदों, पुराणों, उपनिषदों, संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों में इस शब्द का बार–बार प्रयोग इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है।

विभिन्न अर्थो में इस शब्द का प्रयोग इसकी व्यापकता तथा अर्थ विस्तार को स्पष्ट करता है। साहित्यिक, ऐतिहासिक ग्रन्थ तथा मध्यकालीन ग्रन्थों में इसके प्रयोग ने इसमें वृद्धि कर दी।

संस्कृत में लोक शब्द का अर्थ स्थानवाची है तो साथ ही साथ जीववाची

---

(1) हिन्दी विश्वकोष (लोक सात है, भूलोक, भुवलोक, स्वलोक, मटलोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा पृ०सं० 86

भी है। ''ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में एक स्थान पर जीव तथा स्थान दोनों ही अर्थों में प्रयोग हुआ है।''[1] प्रायः जन शब्द भी लोक का समानार्थी माना जाता है, इस शब्द का एक अर्थ बहुत पहले से ही चला आ रहा है।

पृथ्वी सूक्त में जन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में मिलता है। उपरोक्त के अनुसार ''विभिन्नताओं के रहते हुये धरती एक है उसमें रहने वाले सभी व्यक्ति एक हैं। पृथ्वी सूक्त में जन का धरती पर समान अधिकार स्वीकार किया गया है। एक अन्य स्थल पर भारतीयों के लिये जन शब्द का प्रयोग किया गया है।''[2]

''एक नयनवाभवाप्तव्यंपर्व एव चकर्यर्णि।
उत्सीदेयुरिमे लोका नु कुर्या कर्म चेदहम।।''[3]

लोक शब्द का प्रयोग अर्थों में (जैसे–स्थान, जनसमुदाय, मानव शरीर आदि) आदि के लिये प्रयोग किया गया है।

महाभारत कार वेद व्यास ने ''लोक को अंजन की शलाका भी बताया है। जो उन्मीलित चक्षुओं को खोल दें, ताकि अज्ञान के अंधकार का नाश हो जावे।।''[4]

''सत्यं वृहद्दत मुग्रं दीक्षा तयो, ब्रह्म यज्ञः यज्ञः पृथ्वी धारयंति।
सो नो भूतस्य मथस्य, पल्यु, सं लोकं पृथवी नः कृणो तु।।''[5]

अथर्ववेद में लोक शब्द का वर्णन इस प्रकार है– कि पृथ्वी पर प्राप्त सभी वस्तुयों के लिये लोक शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां पृथ्वी से प्रार्थना की गई है कि वहइस विशद लोक को हमारे अनुकूल करे।

---

(1) ऋग्वेद पुरूष सूक्त 10/90/14

(2) य इमें रोदली उमे अहमिन्द्रमतु पुखं विश्वाभिउस्य रक्षति ब्रहोदं भारतं जनं ऋग्वेद 3/53/2

(3) गीता 3/22

(4) महाभारत

(5) अर्थववेद

जैमनीय उपनिषद में लोक शब्द का प्रयोग विराटतथा विस्तृत के अर्थ में हुआ है। ''लोक इतना व्यापक और विशाल है जिसे जानना सरल नहीं है।''(1)

लोक विशद, व्यापक विराट, सर्वव्यापक, सर्वकालिक, सार्वदेशिक तथा परम्परानुमोदित मानसिकता है, जो किसी शास्त्रीय अथवा अभिजात्य संस्कारों तथा पांडित्य की लक्ष्मण रेखा में बद्ध नहीं है। ''यह गांव की झोपड़ी से महानगरीय जीवन की आकाशचुम्बी अट्टालिका में रहने वाले मानस तक विद्यमान है।''(2) महान वैयाकरण पाणिनी ने अपने महान व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी में लोक शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है– उन्होनें इसमें ठञ प्रत्यय लगाकर लौलिक सार्वलौकिक शब्दों की निष्पत्ति की है।

''तत्र विदित इत्यर्थे। लौकिकः। अनुशतिका दित्वा दुशयपद वृद्धिः सर्वलौकिकः।।''(3)

''पाणिनी ने लोक और वेद में एड़त्र गो शब्द के पद के अन्त में विकल्प भाव का होना स्वीकारते हुये वेद से लोक की पृथक सत्ता स्वीकार की है।''(4)

इस धारणा की पुष्टि प्राचीन आर्य ग्रन्थों में वर्णित 'लोके च वेदे च' की उक्ति से होती है,जो विद्वान वेदों से लोक को भिन्न मानते हैं, वे भी उसके महत्व तथा अस्तित्व को मानते थे। लोक सदैव वेद का अनुसरण नहीं करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि वेद से पहले लोक का अस्तित्वथा, तथा बहुत बातें ऐसी भी थीं जो वेदों में नहीं थीं तथा कुछ चीजें ऐसी भी थी जो केवल वेद में थीं और लोक में नहीं थी। परन्तु 'लोके च वेदे' में अन्तर्गत

---

(1) बहु व्याहितों वा अयं बहुतो लोकः क एतद अस्य पुनरीहितो अयात्।
जैमिनीय उपनिषद् 3/28

(2) स्मारिका 'लोक कला दर्पण' हिन्दी का प्रादेशिक लोक साहित्य शास्त्र पृ0 सं0189–90

(3) लोकसर्वलोकट्ञ् 5/1/44

(4) लोके वेदे चौड़त्तस्य गोरति वा प्रकृति भावः स्पान्पदांते/गो अग्रम/गोऽयम् –6/1/122

वह सभी कुछ था जो दोनों में विद्यमान था। कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार– वेदों में शक्ति पूजा का विधान लोक जीवन से आया। वैदिक साहित्य में विवाह संस्कार और पुत्र जन्म आदि के अवसर पर गाये जाने वाले लोकगीतों का अनेक स्थान पर उल्लेख हुआ है।[1]

"केषां शब्दानाम् लौकिकानां वैदिकानां च।

एकस्य शब्दस्य बहबो अपभ्रंशा।।"[2]

लोक शब्द का प्रयोग महाभाष्यकार पंतजलि ने लोक प्रचलित गौः शब्द के अनेक रूपों का उल्लेख अपने ग्रन्थ महाभाष्य में किया है।

"अज्ञानाविमिरा हस्य लोकस्य तु विपेचटतः।

ज्ञानाजनं शकाकमिः नेत्रोन्मीलन कारकम्।।"[3]

श्रीमद् भागवत गीता में एक स्थान पर लोक शब्द का अर्थ लोक संग्रह के लिये प्रयुक्त हुआ, जिसका अर्थ 'आशय' है। सृष्टि संचालन को सुरक्षित बनाये रखने, उसकी व्यवस्था में किसी प्रकार का व्यवधान ना डालकर उसके सहायक बनकर उनकी सहायता करना 'लोक संग्रह' कहलाता है। लोक संग्रह और लोकोक्षय द्वारा क्रमशः त्रिलोक, जनसाधारण अथवा जन समूह को बोध कराया गया है।

प्रायः जन शब्द भी लोक का समानार्थी माना जाता है, परन्तु इस शब्द का एक ही अर्थ बहुत पहले से चला आ रहा है। लोक अनेकार्थी नहीं रहा है। पृथ्वी सूक्त में 'जन' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। जनपद शब्द से भी जन शब्द का व्यापक अर्थ निकलता है। अशोक के शिलालेख में भी "जनपद पद पद्मा च मनसा"[4]

---

(1) लोक कला दर्पण डॉ0 शैलेन्द्र नाथ चक्रवर्ती पृ0सं0 20

(2) महाभाष्य प्रथम अहिक

(3) श्रीमद् भागवत गीता 3/20

(4) अर्थो जगती लोको विष्टयं भुवनं जगत।

लोंकोव्यं भारतवर्ष शरावत्या स्तुगो बचे।। अमरकोश 6, पृ0सं0 47

में भी इसका प्रयोग सामान्य प्रजा वर्ग के लिये ही हुआ है।

अमरकोष कार ने अनेक लोकों का उल्लेख करते हुये "हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक विस्तृत प्रदेश अर्थात् भारत वर्ष को लोक कहा है, और लोक का प्रयोगस्वर्गादि लोक तथा जन के अर्थों में भी किया है।"(1) परजन, परिजन "ऋग्वेद और अथर्ववेद में दिव्य और पार्थिक इन दोनों अर्थो में लोक शब्द का प्रयोग किया गया है। बाजसनेयी में भी यही प्रचलित रूप पाया गया है। लोक का विशिष्ट अर्थ वेद विरोधी भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी समय से लोक और वेद कहने की परम्परा चल पड़ी होगी।"(2)

मनु स्मृति में एक टीका के अनुसार वेद की दो धारायें चलीं वैदिकी और तंत्रिकी। मनुस्मृति की इन दो धारायों में "तंत्रिकी लोकानुवर्ती थी। जिसमें नियम, आग्रह का अभाव था, ऊँच–नीच का अभेद था। लोकायत दर्शन भी वैदिक दर्शन से भिन्न था। धीरे–धीरे वैदिक प्रभाव घटता गया तथा लौकिक प्रभाव बढ़ता गया, लोक का विस्तार होता चला गया।"(3)

इस प्रकार भारतीय ग्रंथों में लोक–पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्थान, इहलोक, परलोक, वायुलोक तथा सप्तलोक हैं, तथा उसका संसार स्थान विशेष, निवास, स्थान, दिशा, प्राणी, समाज, प्रजा, जन सामान्य आदि हैं। इन अर्थो में लोक कही वेदों पर आधारित है तो कहीं लोकानुवर्ती है। किन्तु दोनों एक दूसरे के पूरक है। जहां परम्परा लिखित, शास्त्रीय प्रभावित है, वैदिक है तो वहीं लोक परम्परायों की धारा अनुमोदित, सांस्कारिक, व्यवहार एवंमानव समाज की गति विधियां हैं। लोक और वेद भारतीय समाज रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। लोक और वेद एक दूसरे से नहीं हैं "लोक शब्द का अर्थ

---

(1) अशोक के शिलालेख पृ0सं0 177

(2) सम्मेलन पत्रिका– 'लोक संस्कृति की आत्मा' नमर्देश्वर चतुर्वेदी पृ0सं0119

(3) स्मारिका 'लोक कला संग्रह' डॉ0 शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव पृ0सं0 19

जनपद या ग्राम नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। ये लोग नगर के परिष्कृत रूचि सम्पन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं, और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो भी वस्तुतः आवश्यक होती है, उनको सम्पन्न करते हैं।''[1]

यह सत्य है कि लोक ग्राम तथा शहर दोनों में ही निवास करने वाली जनता है। भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहां की अधिकांश जनता गांवों में ही रहती है, किन्तु वर्तमान में जैसा परिवर्तन होता चला आ रहा है, गांव नगर बनते जा रहे हैं। हर नगर अपने पूर्व समय में गांव ही रहा होगा जो शनैः –शनैः नगर की ओर अग्रसर होता चला गया होगा। उसके पश्चात गांववासी नगर से सम्मोहित होकर ग्राम छोड़कर नगरवासी होते चले गये तथा अपने साथ अपनी मान्यतायें रीति–रिवाज संस्कार भी ले आये। जो कुछ परिवर्तन के साथ नगर में भी प्रचलित हो गये। अतः समस्त भारतीय जनता को ही भारतीय लोक स्वीकार करना अधिक उचित जान पड़ता है।

प्रत्येक समाज देश काल की विकास यात्रा का अध्ययन करने के लिये सबसे उत्तम दर्पण संस्कृति ही है। संस्कृति ही उसका महत्वपूर्ण पक्ष होती है। इस सम्पूर्ण जगतमें मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसमें विचारबोध है। जो कर्म करने के लिये स्वतंत्र है, अतः वह भले–बुरे कर्मो का भी विचार करता है और विचार करते हुये भी सभी कार्यो को करता है। इस कर्म चेष्टाओं को पाप–पुण्य, सुकर्म–कुकर्म, भला–बुरा इत्यादि कहा जाता है। जिसके आधार पर उसकी संस्कृति को भी विशेषण मिल जाता है। अतः संस्कृति क्या है? उसका स्वरूप क्या है? इसका इतिहास क्या है? इस पर विचार करना अत्यन्त ही सभीचीन है।

संस्कृति सदियों–युगों की यात्रा करते करते परिष्कृत एवं परिमार्जित होते

---

(1) 'जनपद' खण्ड एक (अक्टूबर 1952) डॉ0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार–विचारों का इतिहास है। संस्कृति का भारत वर्ष में सर्वप्रथम वैदिक युग से ही लिखित इतिहास प्राप्त होता है। वेदों के दर्पण में "वेदाऽ खिलो धर्म मूलम्" इस वचन के आधार पर प्रचलित सभी धर्मो का मूल वेद ही है, विद्वानों का मत है कि "वैदिक काल से भी पूर्व यहां एक संस्कृति थी।"[1]

"संस्कृति में परिवर्तन, परिवर्द्धन काल क्रमानुसार हुआ करते हैं किन्तु उसकी सत्ता सदैव अक्षुण्ण रहा करती है। वह कभी मरती नहीं, मिटती नहीं इतिहास के उदय काल से अब तक की भारतीय संस्कृति का समालोचन करने से यह बात बहुत सरलता से स्पष्ट होती है कि वैदिक युग में वैदिक (आर्य) अवैदिक (अनार्य) दो संस्कृतियों का संघर्ष भारत वर्ष में रहा है। तमिल संस्कृति जिसे द्रविड़ सभ्यता या संस्कृति कहा जाता है, से वैदिक संस्कृति का सर्वप्रथम संघर्ष प्रारम्भ होता है। उपनिषद काल, स्मृतिकाल, सूत्रकाल, पुराणकाल, तंत्रकाल, बौद्धकाल, और मध्यकाल से अब तक लगातार यह संस्कृति संघर्ष चल रहा है। इतने पर भी भारतीय संस्कृति विनष्ट नहीं हुयी है।"[2]

वर्तमान समय में साधारणतयः प्रयोग में सभ्यता और संस्कृति में अन्तर नहीं किया जाता है। वस्तुतः देखा जाये तो साहित्य में भी ये प्रायः समानार्थक के तुल्य ही प्रयुक्त होता है। किन्तु किसी जाति और राष्ट्रीय संस्कृति और सभ्यता का ठीक–ठाक माप करने के लिये यह आवश्यक है कि दोनों के मौलिक अन्तर को स्वीकार किया जाय। संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है और सभ्यता का परिणाम शरीरिकं एवं भौतिक विकास है। संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से है और सभ्यता का सम्बन्ध कार्य–कलाप से है।

---

(1) सम्मेलन पत्रिका पं० नारायण शास्त्री रिवस्ते पृ०सं० 36

(2) सम्मेलन पत्रिका 'भारतीय संस्कृति में लोक जीवन की अभिव्यक्ति– महामहोपाध्याय पृ०सं० 19

"वस्तुतः संस्कृति रिवाज या पद्धति या सामाजिक–आर्थिक और राजनैतिक संस्था नहीं है। नाचना, गाना, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, गृहनिर्माण इन सब का अन्तर्भाव सभ्यता में होता है, संस्कृति अलंकरण है सभ्यता शरीर है, संस्कृति अपने को सभ्यता द्वारा व्यक्त करती है। संस्कृति वह ढ़ांचा है, जिसमें समाज के विचार ढ़लते हैं ,वह बिन्दु है जहां से जीवन की समस्यायें देखी जाती हैं।"[1]

"जगत का मूल तत्व चेतन है, जीव नित्य है, अपने सुख दुःख का स्वंय कर्ता है कर्मफल भोगना ही होगा, जगत का विकास देवताओं अर्थात् आध्यात्मिक आधि ादैविक और आधिभौतिक शक्तियों के सहयोग से हुआ है। संघर्ष से नहीं जब तक यह तथ्य समझ में न आयेगा, तब तक भारतीय संस्कृति से दूर रहेगें, भारतीय संस्कृति की दृढ़ मान्यता है कि 'एक शत वित्रा बहुधा वदन्ति'"[2] वह तत्व जिसकी उपासना की जाती है, वह एक है। उसे किसी नाम से पुकारा जाये, किसी भी भाषा से बुलाया जाय, भारतीय जीवन के दो आधार है धर्म का, कर्त्तव्य का। अधिकारों का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये कि 'परस्पर भावयन्त श्रेयः परं वाचस्थ'। एक दूसरे के हित साधन से परम श्रेय की सिद्धि होती है। भारतीय संस्कृति का यही प्राण है। इसकी अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं।

संस्कृति का अध्यन साहित्यकला, समाजशास्त्र, नैतिक कला व धर्मभीरू के रूप में कर सकते हैं। सभ्यता का अर्थ है समाया, समाज में रहने की योग्यता अर्थात् सामाजिकता बन्धन पर जोर देती है। सभ्यता राष्ट्र सभाकृ शब्द से बना है, जिसका अर्थ है सभा में बैठने की योग्यता। सभा में शिष्टाचार के नियम का पालन किया जाता है, सामाजिक भावना का अनुभव किया जाता है, अतएव सभ्यता शब्द शिष्टाचार के नियमों के साथ ही सामाजिक उत्तरदायित्व सामाजिक बन्धन एवं सामाजिक व्यवहार का निर्देश

---

(1) सम्मेलन पत्रिका — डॉ0 सम्पूर्णानन्द — पृ0सं0 25

(2) सम्मेलन पत्रिका — 'भारतीय संस्कृति का प्राण' डॉ0 सम्पूर्णानन्द पृ0सं0 28

देता है। सभ्यता शब्द का सम्बन्ध नागरिकता से भी है, ग्राम की अपेक्षा नगर में विभिन्न वर्ग के कहीं अधिक लोगों का सुख शांति पूर्वक रहना पड़ता है।

"ग्रामीणों की अपेक्षा शहरी नागरिक अधिक शिक्षित, अधिक संगठित और अधिक सभ्य होते हैं। मौलिक दृष्टि से यह जो अन्तर था, वह धीरे-धीरे व्यापक हो गया। जो व्यक्ति सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास की दृष्टि से अधिक उन्नत थे, वे अपने आप को सभ्य समझने लगे। इस प्रकार सभ्यता शब्द का अर्थ हो गया शिक्षा, बौद्धिक विकास, उच्च नैतिक शिक्षा एवं भौतिक सुख समृद्धि।"[1]

सभ्यता का लक्ष्य मनुष्य को अधिक सुखी समृद्ध बनाना, अधिक सभ्य और शिष्ट बनाना। इसके विपरीत "संस्कृति से मनुष्य की आत्मा संस्कारित होती है व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के हर पहलू में संस्कृति के दर्शन होते हैं। सभ्यता की नकल की जा सकती है, परन्तु संस्कृति की नहीं। मनुष्य वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, की नकल कर सकता है किन्तु आंतरिक भावों और विचारों की नकल करना दुष्कर है। संस्कृति के क्षेत्र में भी वर्ग जीवन और सामूहिक लोक जीवन में अन्तर रहा है। वर्ग से मेरा अभिप्राय उन लोगों से हैं जो धनवान हैं, जिनके पास अवकाश है, जो शिक्षित हैं, शेष समूह के अन्तर्गत हैं, किन्तु संस्कृति के वे पहले जो सामूहिक लोक जीवन में समाविष्ट नहीं हैं अल्पकाल में ही एंकागी एवं निस्तेज होकर पतोन्मुख होने लगते हैं, इसलिये संस्कृति एवं मानव जाति के वास्तविक प्रेमियों ने सदैव लोक समूह से सम्बन्ध स्थापित करने का नवीन साधनों को खोज निकालने का तथा उनको पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया है।"[2]

संस्कृति शब्द अपने गर्भ में विभिन्न अर्थों को छिपाये हुये है। विभिन्न

---

(1) 'सभ्यता और संस्कृति' सम्मेलन पत्रिका डॉ0 प्रसन्न कुमार आचार्य पृसं0 31

(2) 'धार्मिक लोक संस्कृति के कतिपय स्डीट' सम्मेलन पत्रिका

शुभमूर्ति रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर पृ0सं0 40

विद्वानों ने इसको विभिन्न आलोकों में इसके दर्शन किये हैं। यह शब्द अत्यन्त व्यापक और गहरा है। एक विद्वान के अनुसार –"संस्कृति ब्रह्मा की भांति अवर्णनीय है, वह व्यापक अनेक तत्वों को बोध कराने वाली जीवन की विविध प्रवृत्तियॉ से सम्बन्धित है। अतः विविध अर्थो एवं भावों में उसका प्रयोग होता है। इस प्रकार यह एक पकड़ में न आने वाला शब्द बन गया हैं संकुचित साम्प्रदायिकता से लेकर उच्च मानवादर्शों की अभिव्यक्ति तक इसका क्षेत्र है। यह सब होते हुये भी प्रयोग की इस विविधता के बीच भीं इसका एक निश्चित अर्थ तो है ही, समाज जीवन के शरीर को लेकर जिन बाह्यचारों की सृष्टि हुई है, मानव मन की बाहय प्रवृत्ति मूलक प्रेरणाओं से कुछ विकास हुआ है, उसे सभ्यता कहेगें और उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों से जो कुछ बना है उसे संस्कृति कहेगें। शरीर और आत्मा की भांति सभ्यता तथा संस्कृति जीवन की दो भिन्न प्रेरणाओं को व्यक्त करती है। दीपक की लौ सभ्यता है, तो उसके अन्दर भरा स्नेह संस्कृति है। सभ्यता जीवन का रूप है, तो संस्कृति उसका सौन्दर्य है। जो रूप से भिन्न भी है। अभिन्न भी है, जो उसके पीछे झांकता है और जीवन के अवगुण्ठन से भी बाहर फूटा पड़ता है। पर वस्तुतः उसके अन्तर में समाया हुआ है। इसीलिये संस्कृति अदृश्य जीवन तत्वों की भांति कुछ रहस्यमय एवं दुर्बोध हो गयी, शब्दों की पकड़ में ठीक–ठाक नहीं आती फिर भी इतना कह सकते हैं कि संस्कृति किसी देश जाति की आत्मा है, इससे उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने सामूहिक, सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। वह विशिष्ट मानव समूह के उन उदान्त गुणों को सूचित करती है, जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं जिन पर अधिक जोर दिया जाता है।"[1]

मानव समूह जाति राष्ट्र के ऐसे गुण जो उसे अन्य से अलग पहिचान दिलाते हैं, ऐसे क्रिया–कलाप, आचार–विचार संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। जिनमें

---

(1) सम्मेलन पत्रिका 'सम्पादकीय 'रामनाथ 'सुमन' पृ०सं० 6

कल्याण की भावना हो, जो मानवता को उच्च दिशा की ओर अग्रसित कर सकें। अपने संसाधनों को मानवता की रक्षा में लगाने की ओर उन्मुख करते हो "धन, विद्या, शक्ति की अवज्ञा हमारे यहां नहीं थी यह सब ने माना है कि औसत व्यक्ति वर्ग या समाज को इसकी आवश्यकता है, पर इसका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है। इसे देखकर ही संस्कृति का अनुमान लगाया जा सकता है। रावण परम विद्वान था, शक्तिमान कहलाया। आज संसार में विद्या की कमी नहीं, धन की कमी नहीं बल्कि इनके महत्व में पूर्व काल से अधिक वृद्धि हो गयी है, तब भी इनके द्वारा मानव जाति और मानव शक्तियों का भंयकर विनाश हो रहा है। भयंकर आविष्कारों ने मानव जाति के भविष्य को खतरे में डाल दिया है, यह विद्या का व्यभिचार है, इसे संस्कृति नहीं कह सकते।"[1]

संस्कृति शब्द के अर्थ एवं इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये भारतीय तथा अभारतीय विद्वानों ने इसको परिभाषित करने का प्रयास किया है जो कि निम्न है–

पाश्चात्य आधार–

रार्वट वस्टेड के अनुसार– "संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुयें सम्मलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं, और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।"[2]

फेयर चाइल्ड के अनुसार–"प्रतीकों द्वारा सामाज़िक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिये सामूहिक नाम संस्कृति है।"[3] इन्होनें संस्कृति में समाज के महत्व को स्वीकार किया है।

टायलर के अनुसार– "संस्कृति सीखे हुये व्यवहार की वह समग्रता है

---

(1) सम्मेलन पत्रिका 'सम्पादकीय' *'रामनाथ 'सुमन'* *पृ0 सं0 10*

(2) The Socal order *Rovert Beirstedt* *P-106*

(3) Declionary of Sociology *H.P. Fairchild* *P-80*

जिसमें कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता है तथा पनपता है।"[1] संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमतायों और आदतों का समावेश रहता है। जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

मैकाइवर और पेज के अनुसार– "हमारे रहने और सोचने के तरीकों में रोज की अन्तः क्रियाओं कला में, धर्म में, मनोरंजन तथा आमोद–प्रमोद में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।"[2]

हॉवल के अनुसार– "संस्कृति सम्बद्ध सीखे हुये व्यवहार प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है, जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है और जो इसीलिये प्राणी शास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।"[3]

भारतीय आधार–

डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार–"संस्कृति वह वस्तु है जो स्वभाव, माधुर्य नीरोगता एवं आत्मिक शक्ति को जन्म देती है।"[4]

डॉ0 राधाकृष्णन ने संस्कृति को मानव–जीवन के लिये प्रेरणादायी माना है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार– "संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। धर्म के समान वह भी अविरोधी वस्तु है।वह समस्त दृश्यमान विरोधों से सामंजस्य उत्पन्न करती है।"[5] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने संस्कृति को धर्म के समान शाश्वत, सत्य माना है।

---

(1) समाजशास्त्र के मूल तत्व — टॉयलर

(2) मैकाइवर और पेज — विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर दिल्ली–7

(3) हॉवेल

(4) स्वतंत्रता और संस्कृति — डॉ0 राधाकृष्णन — पृ0सं0 33

(5) अशोक के फूल — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी — पृ0सं0 65

रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार– ''जीवन का संचार जीवित माध्यम से ही सम्भव है और संस्कृति में मन का जीवन है। यह केवल मनुष्यों के पारस्परिक आदान प्रदान और विचार विनिमय द्वारा फैल सकती है। संस्कृति विकासशील है और जीवन कविकास के साथ ही परिवर्द्धित और परिवर्तित होती है।''[1]

रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने संस्कृति को जीवन का अंग माना है।

डॉ0 मनमोहन शर्मा के अनुसार– ''आचार–विचार का ही दूसरा नाम संस्कृति है। ये आचार–विचार, बुद्धि तथा अनुभव जन्य ज्ञान की भित्ति पर आश्रित है।''[2]

डॉ0 मनमोहन शर्मा जी ने आचार–विचार को ही संस्कृति माना है।

डॉ0 सच्चिदानन्द राय के अनुसार–''संस्कृति मानव जीवन की एक विशिष्ट क्रिया तथा स्थिति है। जिससे सम्पूर्ण जीवन प्रभावित ही नहीं अपितु अलंकृत भी होता है।''[3]

डॉ0 सच्चिदानन्द राय संस्कृति को मानव–जीवन के शुद्धिकरण की प्रक्रिया मानते है।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में आचार–विचार को ही संस्कृति का मुख्य प्रतिपाद्य माना गया है। संस्कृति को हम किसी धर्म या मजहब से नहीं जोड़ सकते हैं, अपितु इसे लोकाचार से जोड़ना तर्क संगत और न्याय संगत होगा। प्रायः यह देखा गया है कि हिन्दू और मुसलमान विभिन्न धर्माम्बलम्बी होते हुये भी कुछ साझा संस्कृति व रीति–रिवाजों का पालन करते हैं।

संस्कृति विचारों और शिक्षा पर आश्रित है। उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन होता हैं और यह परिवर्तन उसकी संस्कृति में दिखता है। मनुष्य एक

---

(1) विश्व मानवता की ओर रवीन्द्र नाथ ठाकुर पृ0सं0 198

(2) भारतीय संस्कृति और साहित्य डॉ0 मनमोहन शर्मा पृ0 सं0 24

(3) हिन्दी उपन्यास 'सांस्कृतिक एवं मानवतावादी चेतना' डॉ0 सच्चिदानन्द राय पृ0सं03

संस्कृति से दूसरी संस्कृति में पलायन करता हैं, वह दूसरी संस्कृति के कुछ गुण अपने में समाहित कर एक नयी संस्कृति को जन्म देता है। आज हम भारतीय संस्कृति को पुरातन समझ कर पाश्चात्य संस्कृति को अपनाया जा रहा हैं। जिसकी चेतना हमें आज की आधुनिक शिक्षा प्रणाली से मिलती है।

भारतीय संस्कृति अपने प्राचीन समाज के काल खण्ड एवं आचार–विचार पर आधारित है। आज के परिवेश में उसमें कुछ कमियां नजर आ सकतीं हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय संस्कृति को भुला दिया जाऐ। संस्कृति का सम्बन्ध जलवायु विशेष से भी है। पाश्चात्य देशों की जलवायु के कारण ही उनके आचार–विचार, रहन–सहन तथा पहिनावा हमसे भिन्न है। अतः उनकी संस्कृति भी हमसे भिन्न है। पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण उचित नहीं है। हम उन पक्षों को अंगीकार कर सकते हैं जिसकी आवश्यकता आज के आधुनिक युग में हमारे लिये हो। हमारी भारतीय संस्कृति आवश्यकताओं पर आधारित है, उसमें दिखावा या मिथ्याभिमान नहीं है। आज के भौतिक युग में इस दिखावे के कारण ही हमारी संस्कृति में बदलाव आया है।

आधुनिक विचार धारा के लोग इस संस्कृति को ग्रामीण व भद्दी कहने लगे हैं, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। आज के भौतिक वादी युग की जिन आवश्यकताओं को हम संस्कृति से जोड़ रहे हैं, वह हमारा विकास नहीं कर सकती है। आधुनिक संस्कृति में भोजन का अर्थ स्वाद है। जीवित रहने के लिये भोजन नहीं किया जाता है, यही कारण है कि आज का मनुष्य उदर सम्बन्धी विकारों से ग्रस्त है। आज की संस्कृति में वस्त्र शरीर ढ़ाकने या गर्मी–सर्दी से बचने के लिये नहीं अपितु फैशन व सम्मान का पर्याय बन गये हैं। मकान बड़े–बड़े बंगले व अन्य भौतिक सुविधायें भी सम्मान का पर्याय हैं।

आधुनिक परिवेश में इन भौतिक सुविधाओं की आवश्यकता तो हो सकती है किन्तु स्वयं को इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये मिटा देना उचित नहीं है। इस

भौतिकवादी युग में शिक्षा के प्रसार के साथ हमारे दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो रहा है तथा नयी चेतना जाग्रत हो रही है। ऐसे ही संस्कृति में भी परिवर्तन होना अवश्यभावी होना दिखाई पड़ रहा है।

जबकि ''भारतीय संस्कृति की मूल धारा है आत्म शुद्धि, त्याग एवं तप के जीवन द्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यता का निर्माण हमारे धर्म में, हमारी समाज व्यवस्था में, हमारे शिक्षा क्रम में, हमारे चिकित्साशास्त्र में, हमारी कला में, जीवन के इसी उदान्त कल्पना और संस्कृति की धारा है। अंधकार से उठकर प्रकाश, असत्य से सत्य, मृत्यु से अमरत्व के स्रोत की ओर यात्रा करने की वृत्ति।''[1]

जीवन की दैनिक दिनचर्या के माध्यम से आत्मा की शुद्धि करना, सामाजिक समरसता बनाये रखने के आचार व्यवहार को संस्कार रूप में ग्रहण करते हुये उसे जीवन यापन का अंग बनाना ही संस्कृति को दर्शाता है। लोक जीवन जिस संस्कृति को माध्यम बनाकर जीवन यापन कराता है वह संस्कृति लोक संस्कृति कहलाती है।

---

(1) सम्मेलन पत्रिका 'सम्पादकीय' रामनाथ 'सुमन' पृ0सं0 10

(ब) लोक विश्वास

लोक विश्वास से तात्पर्य लोक में प्रचलित विश्वास से है। अपनी सत्यता के कारण जो कसौटी पर खरे उतरते हैं तथा समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर लोक की मुहर लग जाने के कारण लोक की मान्यता प्राप्त कर लेते हैं ऐसे प्रसंग लोक विश्वास की श्रेणी में आते हैं। लोक विश्वास एक शब्द युग्म है। जो दो शब्दों लोक और विश्वास से मिलकर बना है। लोक विश्वास पहले व्यक्तिगत विश्वास हैं जो बाद में लोक में अपनी सत्यता के कारण लोक विश्वास बन जाते हैं।

हमारे समाज में विपरीत परिस्थितियों में किसी परेशानी या विपदा के समय जन सामान्य द्वारा किया गया कोई ऐसा कार्य जिससे वो विपदा या परेशानी दूर हो जाती है, चाहे वो पूजा–पाठ से सम्बन्धित हो, तंत्र–मंत्र से सम्बन्धित हो या टोने–टोकके आदि से सम्बन्धित हो, यदि उसे लोक से सहमति हो जाती है तथा मान्यता मिल जाती है तो लोक विश्वास के अन्तर्गत आता है।

धर्म का जन्म भय की कोख से हुआ है। दैवीय आपदा या रोग (बीमारी) से ग्रस्त होने पर कोई छोटाकार्य (भले ही उस बीमारी से कोई सम्बन्ध न हो) होने पर वह आपदा समाप्त हो जाती है या रोगी को आराम मिल जाता है। तो उसे उसी पर विश्वास होने लगता है। पुनः उसकी पुनरावृत्ति होने पर वह उसी कार्य को पुनः करने लगता है तथा दूसरे व्यक्ति के पीड़ित होने पर वह उसी कार्य को करने की सलाह देता है। धीरे–धीरे यह समाज में प्रचलित हो जाता है उस पर लोक की सहमति होने पर वह व्यक्तिगत विश्वास, लोक विश्वास बन जाते हैं। कुछ लोक विश्वास बड़े ही वैज्ञानिक हैं। वह या तो धर्म से जुड़े हैं या केवल विश्वास हैं किन्तु वह लोक से मान्यता प्राप्त कर लोक विश्वास बन गये हैं। उदाहरणार्थ– प्रसूत गृह के दरवाजे पर बराबर आज जलायी जाती है। जिसकी वैज्ञानिकता यह है कि उस समय गांवों में इतनी चिकित्सा की

सुविधा नहीं थी तथा गांव में इतनी सफाई नहीं थी, न ही डेटॉल, फिनायल और न ही सर्फ, साबुन अतः कीटाणुओं से बचने के लिये एक पात्र में आग जलायी जाती थी, जिससे कीटाणु प्रसूति गृह में प्रवेश न कर सकें तथा आग और धुयें से नष्ट हो जायें। यह लोक विश्वास बना कि प्रसूति गृह "सौर" दरवाजे आग जलाने से "जमूले" नहीं लगते हैं। "जमूले" एक प्रकार का टिटनिस नुमा रोग है जो नवजात शिशु को हो जाता है। जिससे शिशु की मृत्यु भी हो जाती है। जिसे लोक में कहा जाता है कि जमूले शिशु का खून पी गये बच्चा हरा–नीला पड़ गया। किन्तु प्रसूति गृह के दरवाजे पर आग जलाने से मां तथा बच्चा दोनों स्वस्थ रहे तो प्रसूतिगृह के दरवाजे पर आज जलाने का प्रचलन समाज में प्रचलित हो गया तथा सम्पूर्ण लोक का हृदय जीतने के ाद प्रसविनी स्त्री एवं नवजात शिशु की रक्षार्थ प्रसूतिगृह के दरवाजे पर आग जलाना लोक विश्वास बन गया।

लोक विश्वास एक व्यक्तिपरक स्वीकृति है,जो एक गतिशील तत्व है। समयानुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है। लोक की आवश्यकता के अनुसार कभी–कभी उसका रूप बदलता रहता है। लोक विश्वास हर युग में बनते बिगड़ते रहते हैं, लेकिन यदि लोक विश्वास की जड़ यदि लोक मान्यता है तो ऐसे विश्वास कभी आधारहीन नहीं होते। उनका आधार "वेद–पुराण या ग्रंथों में लिखा कोई प्रमाण या साक्ष्य होता है या फिर लोक के बीच से आया कोई लोकमान्य तर्क या प्रमाण। बहरहाल बिना किसी ठोस आधार के लोक विश्वास का उद्‌भव नहीं होता है।"[(1)]

लोक विश्वास व्यक्तिगत विश्वास के विशिष्ट अनुभव का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, जो सत्य है, वो लोक में हमेशा प्रचलित रहा है। कुछ लोक विश्वास लोक मूल्य या लोक आदर्श के रूप में विशेष महत्व रखते हैं। जैसे--कर्मफल अवश्य ही भोगने पड़ते है। भले कर्म का अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है। इस लोक विश्वास से मानव अच्छे कर्म करने की ओर अग्रसर होता है।

---

(1) बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास नर्मदा प्रसाद गुप्त पृ0 सं0 128

धर्मधारित लोक विश्वासों में पुण्यों से मोक्ष मिलता है। इस तरह के लोक विश्वासों का आधार नैतिकता है। कुछ लोक विश्वास उपयोगिता की दृष्टि से समाज में अपना स्थान बना लेते हैं, जो भविष्य में लोकविश्वास बन जाते हैं। जैसे–वृक्षों की उपयोगिता को लेकर उनमें धर्म को समाहित कर लोक विश्वास बनते हैं। जिनका प्रत्यक्ष प्रमाण वृक्षों की उपयोगिता है। जैसे– पीपल पर भगवान विष्णु का वास, नीम पर भगवती का वास, बेल–पत्र शिव का आहार, बांस जलाने पर वंश का नाश, आंवले की पूजा से पापों का नाश, महुआ पूजा से वर की प्राप्ति तथा तुलसीदल मुंह में डालने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आदि ऐसे लोक विश्वास हैं जिनका मूल कारण वृक्षों की सुरक्षा है। प्राचीन लोक विश्वास है कि एक वृक्ष लगाने से सौ पुत्रों के पालन–पोषण का फल मिलता है। जो आज भी समाज में प्रचलित है।

परम्परागत रूप से प्रचलन में रहने वाले लोक–विश्वासों में कुछ ऐसे लोक विश्वास हैं जो किसी न किसी रूप में मानव मन के लिये उपयोगी सिद्ध होते हैं। ऐसे लोक विश्वासों में भाग्य सम्बन्धी लोक–विश्वास आते हैं। यह लोक विश्वास इतने मनोवैज्ञानिक होते हैं कि वह घोर निराशा, दु:ख पीड़ा के समय जब कोई समाधान नहीं सूझता तो वहां वे पहुंचकर मन को शांति प्रदान करते हैं। भाग्य पर विश्वास करने कालोक विश्वास सहनशीलता, धीरज और मानसिक शांति प्रदान करता हैं। भाग्य सम्बन्धी लोक विश्वास पर पुर्नजन्म एवं कर्मफल आदि आधारित होते हैं।

पुनर्जन्म का लोक विंश्वास अच्छे कर्म करने पर भी अच्छा फल न मिलने की टूटन को भी शांति प्रदान करता है कि इस जन्म के शुभकार्यों का फल अगले जन्म में मिलेगें।

बुन्देलखण्ड में लोक विश्वास अथाह है कि उनको समेटना दुष्कर कार्य है। इन्हीं लोक विश्वासों में जो कसौटी पर खरे नहीं उतरे वे या तो लुप्त हो चुके हैं या अंधविश्वास की कोटि में आ गये।

"संक्षेप में, लोक विश्वास की कसौटी लोक है। लोक स्वीकृति या लोक मान्यता न मिलने पर लोक विश्वास गौण होकर लुप्त हो जाता है। अतएव उसका एक छोर लोक मान्यता है, जिसके बिना उसका अस्तित्व नहीं बनता दूसरी तरफ लोक विश्वास जब अपनी व्यवहारिक स्थिति से उठकर सैद्धान्तिक बनता है, तब लोक मूल्य के रूपमें परिणत हो जाता है। लोक विश्वास की पूरी यात्रा को निम्न प्रकार से दर्शाया गया है–

प्रमाण + अनुभव
V
प्रस्थापना (व्यक्ति द्वारा)
V
विश्वास (व्यक्ति की स्वीकृति)
V
लोक मान्यता
V
लोक विश्वास
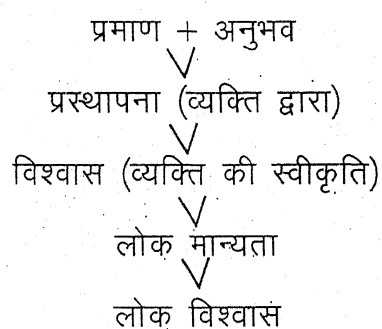
लोक विश्वास की यह यात्रा निरंतर चलती रहती है। लोक विश्वास लोक संस्कृति के विधायक तत्व हैं। एक अचंल के लोक विश्वासों की सामूहिक इकाई उस अंचल की लोकदृष्टि का तटस्थ चित्र प्रस्तुत करती ही है, साथ ही उसके लोकादर्शों या लोकमूल्यों की रेखाओं को भी स्पष्ट रूप में रखती है। इस प्रकार लोक विश्वास समाज और संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग है।"[1]

बुन्देलखण्ड के लोक विश्वास बहुत प्राचीन हैं। लोक विश्वास की यात्रा समयानुसार अनेक स्थानों पर ठहर कर आगे बढ़ी किन्तु अवरोधों और संघर्षो को पार करते हुये निरंतर आगे बढ़ती रही। आदिम मानव से लेकर आजतक इन लोक विश्वासों की संख्या इतनी अधिक है, इतनी विविध है कि उनका वर्गीकरण करना असंभव है, फिर भी नर्मदा प्रसाद गुप्त ने इनको निम्न कोटियों में बांटा है–

(1) मानव और जगत् सम्बन्धी लोक विश्वास

---

(1) बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास नर्मदा प्रसाद गुप्त पृ0सं0 130

(2) प्रकृति सम्बन्धी लोक विश्वास

(3) धार्मिक लोक विश्वास

(4) अतिप्राकृत लोक विश्वास

(5) कृषि सम्बन्धी लोक विश्वास

(6) ज्योतिष सम्बन्धी लोक विश्वास

(7) घर–परिवार सम्बन्धी लोक विश्वास

(8) शकुनापशकुन

(9) स्वास्थ्य सम्बन्धी लोक विश्वास

(10) नीतिपरक लोक विश्वास

(11) अंधविश्वास

आधुनिक युग में पुराने लोक विश्वासों को अंधविश्वास जैसे पिण्ड देना, तर्पण करना, पत्थर पूजना आदि को पाखण्ड समझा जाता है, तथा उसके विरूद्ध विद्रोह किया गया है। वैज्ञानिक आविष्कारों से पुराने लोक विश्वास जैसे–पाप–पुण्य आदि के प्रति प्रश्नचिन्ह खेड़े कर दिये गये हैं। फिर भी बुन्देली लोक–जीवन में इन परम्परावादी लोकविश्वासों को मानने वाले अभी भी हैं। शिक्षा के प्रसार के कारण आयी बौद्धिकता से कुछ नया वर्ग भी तैयार हो गया है जो रूढ़िवादी लोकविश्वासों के विरोधी हैं। कुछ वर्ग ऐसा भी है जो पुरानें लोक विश्वासों के स्थान पर नये लोकविश्वासों को मानता है। कुछ प्रचलित, अर्द्धप्रचलित लोक विश्वास इस प्रकार हैं–

1–पितृ पक्ष में निधन शुभ माना जाता है, किन्तु कोई शुभ कार्य या नया कार्य प्रारम्भ नहीं किया जाता। शादी सम्बन्ध नहीं किया जाता है, यहां तक कि शादी सम्बन्ध की बात भी नहीं चलाई जाती है।

2–शनिवार को तेल, चमड़ा, लोहा नहीं खरीदते हैं।

3–दूध और आग पर पैर नहीं रखा जाता है।

4–मघा नक्षत्र में मां द्वारा बेंटों को खीर बनाकर परोसने से बेटा स्वस्थ एवं बलवान होता है।

"मघा न बरसे भरें न खेत

माता न परसे भरें न पेट।"(1)

5–कन्यायों को देवी स्वरूप मानते हैं।

6–झाडू उल्टी खड़ी नहीं रखना चाहिये।

7–चारपाई को ऊपर अदवायन करके खड़ी नहीं करना चाहिये।

8–मृत व्यक्ति की चारपाई को ऊपर अदवायन करके खड़ा किया जाता है।

9–रात्रि में अदवायन नहीं कसना चाहिये।

10–गंगा जल छिड़कने से अशुद्ध वस्तु शुद्ध हो जाती है।

11–चेचक निकलने को माता निकलना कहते हैं। चेचक निकलने पर मां शीतला देवी की आराधना करना चाहिये।

12– ऋतुकाल में महिलायों को चार दिन– रसोईघर एवं पूजा गृह में तथा तत्सम्बन्धी कार्य करने का निषेध होता है।

13–जब कोई व्यक्ति घर से बाहर जाता है उसके तुरन्त बाद झाडू अथवा सफाई का काम नहीं करना चाहिये।

14–लेटे हुये व्यक्ति के चरण स्पर्श नहीं करना चाहिये।

15–दक्षिण दिशा में पैर करके नहीं सोना चाहिये।

16–दीपक की लौ मुंह से फूंककर नहीं बुझाना चाहिये।

17–हवनादि तथा पूजा की बची सामग्री त्यौहारों पर गौ गोबर से बनाये गये आलेखन को कूड़े में न फेंककर किसी जलाशय आदि में विसर्जित करना चाहिये।

---

(1) लोकोक्ति

18–पूजा गृह में जल तांबे के वर्तन में तुलसीपत्र डालकर रखना चाहिये।

19–भोजन की प्रथम थाली भगवान को अर्पण करनी चाहिये।

20–कुंआरे बालकों को पैर के नाखून नहीं काटना चाहिये।

21–मल–मूत्र विसर्जित करते समय जनेऊ को कान पर चढ़ा लेना चाहिये।

22–प्रातः घर की सफाई करते समय बाहर से अन्दरकी ओर सफाई करना चाहिये।

23–रात्रि में झाडू नही लगाना चाहिये।

24–स्नान करते समय पानी सिर से डालना चाहिये।

25–बन्दर तथा सांप को नहीं मारना चाहिये।

26–रात को सोते समय लैम्प या दीपक को बुझाकर सोना चाहिये।

27–घर में आग हमेशा जलती हुयी रखनी चाहिये।

28–चीटीं को पैर से नहीं कुचलना चाहिये बल्कि आटा में चीनी मिलाकर चीटियों को दाना डालना चाहिये।

29–रास्ते में मुर्दा मिलना, पानी का भरा घड़ा मिलना, बछड़े को दूध पिलाती गाय का मिलना, प्रभात में वैश्या का दर्शन मिलना शकुन कहलाता है। इनके अतिरिक्त मछली, नीलकंठ, दही भरा वर्तन, नेवला, गोद में बालक लिये हुये सुहागन स्त्री, हाथी, ब्राह्मण, साधु का मिलना शुभ शकुन कहलाते हैं।

30–किसी कार्य के लिये जाते समय झींक होना, खाली वर्तन मिलना, हिरणी द्वारा रास्ता काटना, बिल्ली द्वारा रास्ता काटना, सर्प द्वारा फुफकार मारना अपशकुन कहलाते हैं।

इनके अतिरिक्त काना मनुष्य, कुत्ते तथा बिल्ली का रोना, स्वप्न में सिन्दूर ढुलक जाना, तेली, विधवा स्त्री, आसमान से तारे का टूटना देखना आदि अपशकुन कहलाते हैं।

31–मनुष्य योनि श्रेष्ठ है संसार के सभी प्राणी और वस्तुयें नश्वर हैं।

32–मनुष्य जीवन में कर्मों का फल अवश्य मिलता है। सुकर्मों से कीर्ति मिलती है।

33–वेद–पुराणानुसार सृष्टि की रचना ब्रह्मा, पोषण विष्णु तथा संहार महेश्वर करते हैं।

34–ईश्वर की इच्छा से ही सभी वस्तुयें पैदा होती है घटती–बढ़ती तथा नष्ट होती हैं।

35–पृथ्वी शेषनाग के फन पर टिकी हुयी है।

36–युद्ध में शहीद होने पर स्वर्ग मिलता है।

37–बुद्ध बरोसी, मंगल खाट मरै नहीं तो आवे ताप। अर्थात बुद्धवार को बरोसी मंगलवार को चारपाई तथा छत नहीं डलवाना चाहिये।

38–सावन में चारपाई नहीं भरवाना चाहिये।

39–पौषमास में कोई शुभ कार्य नहीं होते।

40–हिन्दू पंचाग के अनुसार अधिक मास को शुभ माना जाता है।

41–त्यौहार वाले दिन किसी की मृत्यु हो जाने पर उस त्यौहार को नहीं मनाते।

42–पुरूषों की दाहिनी आंख तथा भुजा फड़कना शुभ माना जाता है।

"भरत नैयन भुज दक्षिण फरकहिं बारहिंबार।
जान सगुन मन हरष अति लागे करन विचार।।"[1]

43–स्त्रियों की बांयी भुजा एवं बांयी आंख फड़कना शुभ होता है।

"मिलन को तो बहियां करके, दरस को फरक रहे दोई नैन।"[2]

"डेरी आंख, डेरी बइयां, वीर मिले कि सइयां"[3]

---

(1) सुन्दरकाण्ड श्री रामचरित मानस

(2) बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य नर्मदा प्रसाद गुप्त पृ०सं० 41

(3) लोकोक्ति

44—पुरूषों की बांयी आंख तथा बांह, स्त्रियों की दाहिनी आंख तथा भुजा का फड़कना अपशकुन समझा जाता है।

45—अमावस्या को बैल हल में नहीं जोतते।

46—स्वाती नक्षत्र में वर्षा होने पर गेहूँ, आद्रा नक्षत्र में वर्षा होने पर धान की फसल अच्छी होती है।

"स्वाती गोहूँ, आद्रा धान न व्यापे कीरा न व्यापे धाम"[1]

"वरसन लागे ऊतरा, कोदों खायें न कूतरा"[2]

"साबुन पहली पंचमी जो गरजै अधरात।
तुम जायो पिया मालवै हम जेवी गुजरात।।"[3]

"अक्का कोदों नीम जौ, बमुर फरतें धान।
जो कहूँ अमुवा बौरें, तो सम्बत् होय महान।।"[4]

"शुकुर केरी बादरी, रहे शनीचर छाये।
कहे घाघ सुन भडरी, बिन बरसे न जाय।"[5]

47—वृक्षों में जीव होता है। फलदार वृक्षों को सींचना पुण्य है।

48—तुलसी, पीपल, आंवला, केला और वट वृक्ष की पूजा से इच्छा की पूर्ति होती है।

49—मृत्यु के समय गंगाजल तुलसीदल डाल देने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

50—घर की छत पर कौआ बोलने पर अतिथि का आगमन होता है।

51—आंवले की पूजा से पापों का नाश होता है।

---

(1) लोकाक्ति

(2) लोकाक्ति

(3) लोकाक्ति

(4 लोकाक्ति

(5) लोकाक्ति

52–गाय की पूजा से मोक्ष मिलता है।

53–रात में वृक्ष से पत्ते तोड़ना पाप है।

54–मछलियों को चुगाने से पुण्य मिलता है।

55–मोर पंख घर में रखने से सर्प नहीं आता है।

56–चिड़िया के धूल में लोटने से वारिस अच्छी होती है।

57–मछली के दांत गले में पहनाने से बच्चे की दांत जल्दी निकल आते हैं।

58–किसी पुराने वृक्ष, बेरी के पेड़, पुराने खण्डहर आदि में भूतों का वास होता है।

59–सूर्योदय से पहले आंगन बेहारने से घर में अशुभ माना जाता है।

लोक विश्वासों को अच्छाई बुराई में समेटना कठिन कार्य है। सभी लोक विश्वास हमें समाज में रहकर एक दिशा प्रदान करते हैं और जीवन निर्वाह करने की प्रेरणा देते हैं ताकि मनुष्य संघर्ष करते हुये भी सुख दुःख में भी सम रहकर एक–दूसरे को शारीरिक व मानसिक सहारा देकर समाज में परिवार की भावना को सुदृढ़ बनाता चले।

(स) लोकधर्म

धर्म शब्द इतना अधिक व्यापक है कई युगों से इसका अर्थ व्यापक रूप से प्रयोग होता रहा है और वर्तमान समय में हो रहा है। इस कारण यदि एक तरफ इसका महत्व बहुत बड़ा है तो दूसरी तरफ इसकी परिभाषा को सीमा में बांधना कठिन है। साधारण प्रकार में इसका अर्थ अंग्रेजी में 'रिलीजन' तथा फारसी में 'मजहब' बताया गया है, परन्तु इन शब्दों के पर्याय स्वरूप 'सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग हो, तो अधिक उपयुक्त होगा। हमारे यहां सभी बातों, सभी चीजों और सभी परिस्थितियों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। इसी कारण 'मैक्समूलर' ने कहा हैं कि हिन्दू लोग सोने--जागने, उठने–बैठने, खाने–पीने, चलने–फिरने सभी में धर्म का सन्निवेश करते हैं।

भगवद् गीता में कितने ही स्थानों पर धर्म शब्द का अर्थ कर्तव्य प्रतीत होता है। रीति--रस्म, आचार--विचार प्रतिदिन के साधारण से साधारण कार्य के सम्बन्ध में हम यह कह सकते है, कि ऐसा करना, ऐसा न करना धर्म है अथवा अधर्म है। धर्म को छोटी से छोटी बात में परिभाषित किया गया हैं।

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।।

यथार्थ में धर्म का जन्म भय की कोख से हुआ है। मानव के विकास क्रम में मनुष्य जिन चीजों पर विजय प्राप्त नहीं कर सका, उनसे डर कर उन्हें पूजने लगा। ऐसा उसका विश्वास था, कि उसकी पूजा करने पर वे मनुष्य को नहीं सतायेंगे। यह आपदा दैवीय हो या प्राकृतिक या हिंसक जानवर। इसके अतिरिक्त जिसने भी उसकी मदद की उन्हें वह हितैषी समझकर उनकी आराधना करने लगा। विकास यात्रा के आगे बढ़ने पर ऋषियों–मुनियों, ज्ञानियों ने उसको अपने तप के बल पर अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, उसका अनुभव किया, उनको परखा तत्पश्चात्य उसको प्रचलित किया। इस

प्रकार अपने–अपने अनुभव उन्होंने प्रतिपादित किये, यह सब वैज्ञानिक हैं। जिनको साधारण जनता अशिक्षित होने के कारण समझने में कठिनाई महसूस करती थी। उनको समझाना कठिन एवं दुष्कर कार्य था। अतः जन साधारण को भय दिखलाकर उन्हें धर्म से जोड़ दिया गया। मनुष्य सोने–जागने, उठने–बैठने, भोजन बनाने, भोजन ग्रहण करने, घर की सफाई, वस्त्र, आचार–विचार, जीविकोपार्जन, सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन–पोषण,सामाजिक विचार, रीति–रिवाज, रस्में,समाज–उत्थान, समाज कल्याण कारक क्रिया–कलाप इत्यादि कार्यधर्म से जोड़ दियें गये। इनका प्रचलन युग–युग तक चलने के कारण इतना अधिक विस्तृत एवं प्रसारित हो गया कि समाज का प्रत्येक प्राणी इसको भली भांति समझने लगा तथा इनका प्रयोग नित्य प्रति करने लगा।

वर्तमान समय में भी लोक का प्राणी इस प्रकार के कार्यों को सम्पादित कर अपना सौभाग्य समझता है। यह सब विचार प्रत्येक इकाई की रग–रग में समाया हुआ है। इसका क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि उसको परिभाषा के रूप में समेटना संभव नहीं है। फिर भी विद्वानों ने प्रयास किया है–

किंग्सले डेविड के अनुसार–"मानव समाज में धर्म इतना सार्व भौमिक स्थायी और व्यापक है कि उसको पूर्ण रूप से समझे बिना हम समाज को नहीं समझ सकते।"[1]

मानव संसार की समस्त घटनाओं या सृष्टि से समस्त रहस्यों को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहा है। अपने जीवन के नित्य प्रति के अनुभवों से वह सीखता है। अनेक ऐसी घटनायें हैं, जिन पर उसका वश नहीं है, स्वभावतः उसमें यह भावना पनपती है, कि कोई ऐसी शक्ति है जो दिखाई नहीं देती है और वह अत्यधिक शक्तिशाली है, यह शक्ति अलौकिक है।

"सत्तामता लसति योड स्तितया
लसतु य यश्रचेतेनेषु व चिदात्मा प्रकासित

---

(1) किंग्सले डेविड *पृ०सं० 333*

आनन्दिषु स्फुरित श्श्रदमन्द मोदरतं

नन्द नंदन तनुं प्रणामामि धर्ममः

संसार में जिनका अस्तित्व है, जो अपने अस्तित्व से सुशोभित है उनमें सत्ता रूप में प्रकाशित होता है तथा आनन्द की अनुभूति करने वालों में आनन्द बन कर छा रहा है। धर्म साक्षात् नन्दनन्दन का रूप है।''(1)

जो अलौकिक शक्ति है जिसे किसी प्रकार वश में नही किया जा सकता है। इसका बस एक ही उपाय है कि इस शक्ति को अपने पक्ष में लाने के लिये इसके सम्मुख सिर झुका कर पूजा, प्रार्थना, आराधना की जाऐ।

''यो रक्षति जगत रक्षति सर्ववीजान।

नीतः क्षतिं क्षपयन्ते निहतो निहन्ति।।

संतिष्ठते कचन येन बिना किंचित।

संधारणो विजयते भगवान सुधर्मः।।

जो अपना रक्षण पालन किये जाने पर समस्त जीवों की रक्षा करता है। अपने को क्षति पहुंचाने पर उन क्षति पंहुचाने वालों को क्षीण कर देता है तथा अपने पर आघात होने पर उन धर्म द्रोहियों को भी सर्वनाश कर डालता है। जिसके बिना कोई भी वस्तु टिक नहीं सकती वह धर्म साक्षत् भगवान है।''(2)

सभी कष्टों एवं दुखों से छुटकारा एक ही शक्ति दिला सकती है, जिसे वेदों, पुराणों में परब्रह्म परमेश्वर कहा गया है। वही अलौकिक शक्ति है अर्थात् उसी की पूजा करना ही साक्षात् धर्म है।

---

(1) 'धर्मांक' कल्याण अंक पं0 राम नारायण शास्त्री, राम साहित्याचार्य पृ0सं02

व्यावस्थापक, कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर

(2) धर्मांक 'कल्याण अंक' पं0 राम नारायण शास्त्री राम साहित्याचार्य पृ0सं02

"एष में धर्माण धर्मोधिकतयो मतः।

यद् मक्तया पुण्डरीकाक्षं स्तंवैरर्स्चेश्ररः।।"[1]

मेरी दृष्टि में धर्मों में सबसे बड़ा धर्म यही है कि मनुष्य सदा कमल नयन भगवान की स्तुति द्वारा अर्चना किया करे।

इसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास एवं इसी से सम्बन्धित क्रियायों को धर्म कहा गया है। "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है"[2] शक्ति आध्यात्म से जुड़ी हुयी है।

इसी आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास करने हेतु जो क्रियायें की जातीं हैं वह धर्म से जुड़ी हुई हैं। उसमें समाज का अनुभव जुड़ा रहता है। धर्म क्रिया का एक वेग है और साथ ही विश्वासों की एक अवस्था की ओर धर्म एक समाजशस्त्रीय घटना के साथ एक व्यक्तिगत अनुभव की है।"[3]

केवल विश्वास से ही धर्म सम्पूर्ण नहीं होता है साथ ही उस शक्ति के प्रति श्रद्धा भक्ति या प्रेमभाव भी धर्म का एक अन्य आवश्यक संवेगात्मक अंग है। उस शक्ति से लाभ उठाने के लिये प्रार्थना, पूजा या आराधना करने की विधियां तथा संस्कार भी होते हैं। इन क्रियाओं में अलग–अलग समाज के भिन्न–भिन्न धार्मिक सामग्रियां, धार्मिक प्रतीक, पौराणिक कहानियों का समावेश रहता है। जिस शक्ति पर विश्वास किया जाता है वह दो प्रकार की होती है। कहीं निराकार शक्ति की आराधना की जाती है तो कहीं साकार ब्रह्म उसके साकार रूप (मूर्ति अथवा प्रतिमा) की पूजा की जाती है।

यही शक्ति हमको नियंत्रित करती है तथा कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों को सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ कि

---

(1) कांची काम कोटि पीठाधीश्वर स्वामी चन्द्रशेखर सरस्वती — पृ0सं0 4

(2) समाजशास्त्र के मूल तत्व — टायलर — पृ0सं0334

(3) समाजशास्त्र के मूल तत्व — मैलिनोवॉस्की — पृ0सं0 333

जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखलाती और नियंत्रित करती है।''(1)

यहां धर्म के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत निम्न प्रकार से है–

''धारणाद धर्म'' धर्म वह है जो हमें सब तरह के विनाश से बचा कर उन्नति की ओर ले जाता है।''(2)

''प्रियते येन स धर्मः'' जिसमें इस बृहयाणु को धारण किया है, वह धर्म है।''(3)

''धिन्वानाद धर्मः धारणा'' धारणा या आश्वासन देना दुःख से पीड़ित समाज को धीरज देकर सुख का मार्ग दिखाना।''(4)

''य तो म्युदयनिः श्रेय समिद्धि स धर्मः'' जिसके आचारण से अभ्युदय तथा निश्रेयस की प्राप्ति होती है। उसका नाम धर्म है।''(5)

''रामो विग्रहवान धर्मः रामायण के श्री राम धर्म की साक्षात् मूर्ति है।''(6)

''धारणाद धर्म धारण करना दुःख से बचना।''(7)

''धरति इति धर्म'' अर्थात् जो धारण करता है।''(8)

---

(1) समाजशास्त्र के मूल तत्व सर जेम्स फेजर पृ0 334

(2) कृष्णतीर्थ श्री गोवर्धन गणधीश्वर स्वामी भारती पृ0 6

(3) जगद्गुरू भानुजाचार्य आचार्य विधिपति स्वामी जी राधवाचार्य पृ0 19

(4) सुउपदेश श्री श्रृंगेरी पीठाधीश्वर पाषद गुरू शंकराचार्य पृ0 5

(5) स्वामी चिदानन्द जी महाराज पृ0 17

(6) समाजशस्त्र के मूल तत्व सर जेम्स फेजर पृ0सं0 334

(7) स्वामी अनिरूद्धाचार्य बैंकटाचार्य जी महाराज पृ0सं0 17

(8) जगद्गुरू भानुजाचार्य आचार्य विधिपति स्वामी जी राघवाचार्य महाराज पृ0सं0 19

"धर्मा ही वीर्य ध्रियते ही धर्मो घृतो धारयते ही रूपमषा"[1]

"धर्मो विश्वास्य जगतः प्रतिष्ठा" अनन्त अपौरूषेय वेद में धर्म को विश्व की जगत प्रतिष्ठा बताया है।"[2]

"त्रीणपदा विचकमे विष्णुर्गापा अदाम्यः अतो धर्माणि धारयन"[3]

परमेश्वर ने आकाश के बीच में त्रिपाद परमित स्थान में त्रिलोक का निर्माण करके उनके भीतर धर्मों को स्थापित किया।

"यज्ञेन यामंय देवास्तानि धर्माण प्रक्ष्मा न्यासन"[4]

यज्ञ के द्वारा यहू पुरूष की देवताओं की पूजा की थी, वही प्राथमिक धर्म था।

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यास्यां वितिमं मुखम्।

तत्व पूषण पाव्रणु सत्य धर्माय दृष्टये।।"[5]

मानव सदैव से ही जिज्ञासु रहा है, जिज्ञासा ही उसे अनुसंधान करने के लिये प्रेरित करती है। मानव प्रत्येक रहस्य को जानने के लियें हमेशा से उत्सुक रहा है। अपनी इसी जिज्ञासा के कारण वह अनुसंधान कर नित्य नये आविष्कार करने के लिये प्रयत्नशील रहा है। इसमें संदेह नहीं है कि वह प्रकृति के भयंकर विनाश को देखकर भयाक्रान्त हुआ होगा, तो दूसरी ओर प्रकृति की सुरम्य छटा देखकर उसका मन मयूर नृत्य करने लगा होगा, इन्हीं दोनों भावों ने उसके जिज्ञासु मन को और भी अधिक उत्सुकता प्रदान की होगी, इस ज्ञान को प्राप्त करने की।

भारतीय संस्कृति धार्मिक संस्कृति है। भारत की समस्त जनता धर्मपरायण

---

(1) स्वामी अनिरूद्धाचार्य बैंकटाचार्य जी महाराज पृ0सं017

(2) जगद्गुरू भानुजाचार्य आचार्य विधिपति स्वामी जी राघवाचार्य महाराज पृ0सं0 19

(3) ज्योर्तिमयपाक सीताराम दास ओंकार पृ0सं0 21

(4) ऋग्वेद 10/90/16

(5) ऋकसंहिता 1/22/18

है। भारतीय जनता में धार्मिकता कूट–कूट कर भरी हुई है। उसके कार्य में धार्मिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य सभी में धार्मिकता ताने–बाने के समान सम्मलित है। यह धार्मिक भावना पूर्व वैदिक युग से अविछिन्न रूप से चली आ रही है। प्राचीन भारतीय बाङ्मय वेद, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक पुराण, श्रीमद्भागवत, मनुस्मृति आदि सब में धर्म ही धर्म है।

अतः इस धार्मिक भावना से लोक कैसे अछूता रहा सकता है। बुन्देली लोक जीवन का प्राण धर्म है। सारा लोक जीवन धार्मिकता के आवरण से ढंका हुआ है। बुन्देली लोक का धर्म के प्रति अटूट विश्वास है। यहां के रीति–रिवाज, आचार–विचार धर्म से अनुप्राणित है। लोक का मुख्य आधार है धार्मिकता। धर्म की घुट्टी लोक मानस को जन्म से ही पिलायी जाती है। अतः उसके समस्त कर्म लोक की समस्त विधायें धर्माधारित हैं। बुन्देली साहित्य, लोक संस्कृति, लोकगीत, लोकोत्तियां, बुझौबल, कहावतें सभी धर्म रूपी वृक्ष की शाखायें सी प्रतीत होती हैं। सभी पर धर्म का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में देखा जा सकता है।

"लोक साहित्य के सभी अंगों में धर्म उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार से माला की प्रत्येक मनिका में सूत्र। धर्म की इसी अनुस्यूक्ता के कारण जनता का साहित्य इतना लोकप्रिय हो सका है...........जनता के इस लोक प्रिय साहित्य में वर्णित विधि विधानों, रीति–रिवाजों, विश्वास, परम्परायों तथा रहन–सहन का अनुशीलन किया जाये तो इससे ज्ञात होता है कि इनको धर्म से कितनी प्रेरणा प्राप्त हुई है, कितना बल मिला है। यदि लोक साहित्य के निर्माण में धर्म का आधार प्राप्त न हो तो उसका इतना सजीव, स्वस्थ्य, सबल होना संभव न था।"है। (1)

बुन्देली लोक का जनमानस सहज, सरल एवं सीधा साधा हैं धर्म की जटिलतायों में न पकड़कर कर्मयोग से पूरे ज्ञान योग सहज निश्छल भाव को ही हृदयंगम करता है।

---

(1) लोक साहित्य की भूमिका डॉ0 कृष्ण देव उपाध्याय पृ0सं0 221 तथा 297

वह निर्गुण ब्रह्म में भी कम विश्वास करता है। उसे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग तथा भक्ति मार्ग की जटिल दार्शनिक प्रक्रियायें रास नहीं आती। वह तो सगुण ब्रह्म के समस्त अवतारों की पूजा करने में विश्वास करता है। समस्त चराचर जगत उसकी आस्था का केन्द्र है। वह तो सियाराम मय समस्त जग को मानता है। उसे पेड़–पौधें, नदी, पहाड़, पशु –पक्षी, कुआं, तालाब, सांप, विच्छू, शेर, दूब, तुलसी, नीम, पीपल सभी सियाराम मय लगते हैं। वह सबको पूजता है मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर, सती चबूतरा, हरदौल चबूतरा, समाधि, मजार, कब्र, सभी में उसकी आस्था रहती है। वर्ष में कोई न कोई तिथि, वार, नक्षत्र, महीना, ऋतु अवश्य होती है जो इनमें से किसी न किसी से सम्बन्धित होती है।

लोक में इन सभी के अलावा उन सभी वस्तुयों की पूजा की जाती है जो दैनिक उपयोग में उसकी सहायता करती है। जैसे हल, मूसल, चक्की, सिल, लोढ़ा, यहां तक की कूड़े डालने की जगह की भी पूजा होती है।

बुन्देली लोकगीतों में लोक की इस भावना का हमें दिव्य दर्शन मिलता है विष्णु, राम–सीता, शिव, पार्वती, राधा, कृष्ण, हनुमान, गणेश, सूर्य, चन्द्र तुलसी, कदम्ब, नीम, पीपल, दूब, कुल देवता, ग्राम देवता, भैरव, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, मोर, गंगा, जमुना, नर्मदा, प्रयाग (त्रिवेणी) काशी आदि के भक्ति परक धार्मिक परक तथा मंगल कामना परिपूर्ण लोकगीतों का प्रचलन हर जगह मिलता है अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत की उपासना में लोकगीत गाये जाते हैं।

'लोक मानस अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु समाज में समरसता हेतु जिन नियमों का अनुसरण करता है वही धर्म है और लोक द्वारा अपने व समाज के उत्थान तथा आध्यात्मिक उन्नति हेतु जो रीति–रिवाज, नियम–कानून अपनाये जाते हैं वही लोक धर्म का रूप ले लेते हैं और लोक धर्म कहलाता है।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

प्रस्तुत शोध के माध्यम से बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्ता दर्शाने का प्रयास किया गया है, जिससे इस भू–क्षेत्र को भी भारत के स्वर्णिम इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो सके।

भारतीय वास्तुकला का इतिहास अन्य ललित कलाओं की भांति महत्वपूर्ण है। स्थापत्य के विभिन्न अंगों का भारत में प्राचीन काल में इतना विकास हुआ कि इसके विषय में एक पृथक शास्त्र की रचना की गयी। व्यापारियों, धर्म प्रचारकों के विदेशों में आवागमन के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की व्यापकता बढ़ी। एशिया महाद्वीप के अनेक देशों में भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला का प्रचार प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति ने अपनी उदारता, मानवता एवं भव्यता के कारण अन्य क्षेत्रों की तरह वास्तुकला के क्षेत्र में भी अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया। भीतरगांव के गुप्तकालीन मंदिरों से लेकर खजुराहो के मन्दिरों तक का ये विकास मूर्तिकला तथा चित्रकला का एक संश्लिष्ट रूप है और भारत की सांस्कृतिक विरासत की पहचान है। देश में तथा उसके बाहर स्थापत्य के जो अगणित उदाहरण शेष हैं वो इस बात के उद्घोषक हैं कि यहां वास्तु के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। विश्व की प्राचीन वास्तुकला के क्षेत्र में भारत का गौरवपूर्ण स्थान है। भारतीय वास्तुकला में धार्मिक और लौकिक पृष्ठभूमि का सुन्दर निरूपण है। विदेशों में भारतीय धर्मो के साथ मन्दिर और मूर्तिकला के प्रसार की गौरवमय गाथा को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। सर्व श्री पी0 के0 आचार्य, आनन्द कुमार स्वामी, स्टेला क्रेमरिश, रायकृष्णदास, कृष्णदेव, के0 आर0 श्रीनिवासन, के0पी0 सौंदरराजन, मधुसूदन ढाकी आदि के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय वास्तुकला का

सांगोपांग परिचय हमारे सामने आया है। इन विद्वानों ने निरपेक्ष वैज्ञानिक ढंग से भारतीय वास्तु का अध्ययन करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

पुरातत्वीय अवशेषों में मन्दिरों के स्वरूप प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं में देखने को मिलते हैं। मन्दिरों के आकार–प्रकार हेतु मानव शरीर, वृक्ष तथा पर्वत शिखर प्रेरणा स्रोत थे। मन्दिर निर्माण में धार्मिक कारण प्रधान रहा, इसके मूल में प्रतिमा पूजन था। इष्ट देवों, मृत राजाओं तथा प्रिय कुटुम्बियों की मूर्तियां सुरक्षित रखने के लिये मन्दिरों की रचना की गयी है। गुप्तकाल तथा मध्ययुग में भारत में बड़ी संख्या में जैन और बौद्ध स्तूपों, चैत्य और विहारों का निर्माण हुआ। मन्दिर निर्माण के लिये आवश्यक सामग्री निर्माता तथा कारीगरों के भी वर्णन (मानसार, शिल्परत्न, काश्यप शिल्प आदि) वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलते हैं। मन्दिरों में दृढ़ पत्थरों और ईटों का विशेष रूप से प्रयोग किया गया। मध्यकाल में भारत में निर्मित मन्दिर गुजरात में सोमनाथ का मन्दिर एवं दक्षिण भारत के अनेक मन्दिर इसके उदाहरण हैं। उत्तरी भारत के मन्दिरों में नागर शैली, दक्षिण भारत के मन्दिरों में द्रविड़ शैली के आचार्यो में ब्रह्मा, त्वष्ट्रा, मय, मातंग, भृगु, काश्यप आदि का नाम उल्लेखनीय है।''(1)

बुन्देलखण्ड के निवासियों के साथ–साथ यहां के समस्त राजा–महाराजा भी सभी धर्मो का आदर एवं सम्मान करने वाले सहिष्णु रहे हैं। यह भूमि अनेक धर्म, सम्प्रदायों की क्रीड़ास्थली रही है, जिसके उदाहरण स्वरूप यहां निर्मित विभिन्न धर्म, सम्प्रदायों के धार्मिक वास्तु हैं। इन धार्मिक वास्तुओं में अधिकांश मन्दिर भगवान विष्णु एवं उनके अवतारों को समर्पित हैं, जिससे यहां वैष्णव धर्म ही परिलक्षित होता है।

बुन्देली लोक का जन–मानस तो अत्यन्त सरल सीधा–साधा है। वह

---

(1) भारतीय वास्तुशास्त्र   द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल   पृ0स0 14–20

जटिलताओं में न पड़कर निश्छल स्वरूप को हृदयंगम करता है। वह निर्गुण ब्रह्म, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा सगुण ब्रह्म के समस्त अवतारों की पूजा करने में विश्वास करता है। समस्त चराचर जगत यहां की आस्था का केन्द्र है। यहां का मानव तो समस्त जगत को सियाराम मय मानता है।

यहां की पावन धरा पर मन्दिरों का बनना चौथी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था, जिसके उदाहरण स्वरूप तिगवां, सागर, एरण, ललितपुर आदि स्थानों में बिखरे भग्नावशेष अपने काल की प्राचीनता, अखण्डता, वैभवता, कलात्मकता का स्वयं बखान कर रहे हैं, परन्तु भौगौलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के मध्य इन अद्वितीय मन्दिरों का शिल्पगत सौन्दर्य, शैली आदि सभी का शनैः–शनैः क्षरण होता जा रहा है।

ऐसी स्थिति में बुन्देलखण्ड की नष्ट होती मंदिरों की ऐतिहासिक धरोहर की प्राचीनता, कलात्मकता, निर्माण शैली एवं उनकी विशिष्टताओं आदि को इस शोध–ग्रन्थ के माध्यम से संरक्षित करने का एक विनम्र प्रयास किया गया है।

अध्ययन की अवधि में बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिरों में अनेक विशिष्टतायें स्पष्ट रूप से देखने को मिली जैसे–

बुन्देलखण्ड का हृदय स्थल कहा जाने वाला क्षेत्र खजुराहो में एक छोटे से भू भाग में अनेक मन्दिर बने हैं, जो केवल एक सम्प्रदाय के न होकर वरन अनेक सम्प्रदायों के हैं। ऐसी धार्मिक सहष्णिुता का अद्वितीय उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। इस स्थान पर छोटे, बड़े, सान्धार, निरन्धार, पंचायतन, सप्तशिखर तथा पंचरथ आदि विभिन्न प्रकार के मन्दिर यहां पर देखे जा सकते हैं, जो अपने स्थापत्य, निर्माण काल तथा जन–मानस की भावनाओं का स्वयं बखान कर रहे हैं।

खजुराहो के मन्दिर मध्यकालीन प्रासाद वास्तु के प्रतिनिधि कहे जाते

हैं, यहां पर शैव, वैष्णव एवं जैन मन्दिर देखने को मिलते हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों को खजुराहो के कलाकारों ने बड़ी सफलता के साथ इन मन्दिरों में चरितार्थ किया है। खजुराहो का रूप विधान ललित कला के विविध–विधानों का समन्वय है। खजुराहो की कला को एक ऐसा महाकाव्य कह सकते है जिसमें धर्म और काम का रोचक समन्वय है।

पूर्व मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों में मन्दिर निर्माण की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी, राजवंशों ने और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने वास्तु एवं मूर्तिकला के विकास में प्रचुर योगदान दिया। मध्यकाल में भारतीय मंदिरों का महत्व बहुत बढ़ गया। वें धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षिक विकास के केन्द्र बनें। इस विचार धारा को मंदिरों के माध्यम से व्यंवहारिक रूप प्रदान किया गया कि राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति हेतु देवालय सर्वाधिक उपयुक्त हैं। मन्दिरों का महत्व बढ़ जाने उनके रूप–विन्यास में वृद्धि हुई। मंदिरों के आकार–प्रकार में वृद्धि हुई। उनके पंचायतन तथा सान्धार रूप विकसित हुये। खजुराहो का लक्ष्मण मंदिर पंचायतन का सुन्दर उदाहरण है।

बुन्देलखण्ड का तीर्थ कहे जाने वाले 'ओरछा' में श्री रामराजा मन्दिर का विशेष महत्व है। इस मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीरामचन्द्र जी की मूर्ति यहां के राजा 'मधुकर शाह' की पत्नी महारानी 'गणेश कुंअरि' की भक्ति की अमर गाथा की पहचान है। श्री राम ने महारानी को स्वप्न में साक्षात् दर्शन दिये और अपनी प्रतिमा स्थापित करने को कहा तथा महारानी ने भी श्रीराम द्वारा दिये गये निर्देशों का पालन किया और मूर्ति स्थापित की। ऐसे मन्दिर में आकर भक्तों को सहज ही ईश्वरीय सत्ता का आभास होने लगता है। सम्पूर्ण भारत में केवल यहीं भगवान राम की राजा के रूप में पूजा की जाती है तथा राजशाही की भांति विशेष अवसरों पर यहां राजा राम को राजसी तोपों की सलामी दी जाती थी।

धार्मिकता के ऐसे उदाहरण बुन्देलखण्ड में ही देखने को मिलते हैं,

जो इस मन्दिर को और भी विशिष्ट बना देते हैं।

ओरछा का चतुर्भुज भगवान का मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस मन्दिर की छत पर जाने के अनेक टेढ़े–मेढ़े रास्ते हैं, जो इसे भूल–भुलैया रूप प्रदान करते हैं।

बुन्देलखण्ड में पन्द्रहवीं शताब्दी के उपरान्त स्थापत्य में एक विशेष परिवर्तन आया, जो आज यहां की पहचान बन चुका है। यहां के अधिकांश मन्दिरों के प्रवेशद्वार के ऊपर की आकृति (दो लघु शिखर तथा उनके बीच में अर्द्धवृत्ताकार अलंकृत आकृति) अन्य स्थलों के मन्दिरों से सर्वथा भिन्न है।

स्थापत्य के साथ–साथ यहां की मूर्तिकला भी बेजोड़ है, जो वर्तमान में बुन्देलखण्ड की विशेष पहचान के रूप में जांनी जाती है। खजुराहो में निर्मित स्त्री, पुरूष, पशु–पक्षी की काम–क्रीड़ा रत प्रतिमायें जो वात्स्यायन के कामसूत्र को साकार रूप प्रदान करती हुई विश्व में अद्वितीय हैं तथा देवी–देवताओं की मूर्तियां यहां के जन–मानस की धर्म–शीलता का बखान करती हैं।

यहां प्रारम्भ से ही भगवान विष्णु के साथ उनके प्रमुख दस अवतारों की पूजा की जाती थी, जिनके स्वतंत्र मन्दिर तथा मूर्तियां आज भी हैं, परन्तु मत्स्य और कूर्म अवतार के मन्दिर यहां नही हैं। इन अवतारों का अंकन यहां के अनेक मन्दिरों की दीवालों पर मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि इन अवतारों की भी मूर्तियां बनायी गयी और जो संरक्षण के अभाव में कहीं पड़ी रहीं जिनको किन्हीं पवित्र हाथों ने उठाकर संग्रहालय में सुरक्षित रखने का पुण्य कार्य करके अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति अगाध प्रेम के दर्शन करा दिये।

इस शोध–कार्य के दौरान कुछ वैष्णवाचार्यों से भी वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन्होंने वैष्णव मन्दिरों में आराधना के लिये चन्दन, तुलसी पत्र तथा पीले वस्त्रों को अधिक उपयोगी बताया और साधना के लिये तुलसी की

माला तथा मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर विशेष बल दिया। शास्त्रों के अनुसार मंत्रों में देवतागण निवास करते हैं। इन मंत्रों के द्वारा ही देवगणों से साक्षात् साक्षात्कार उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार वर्तमान समय में हम ध्वनि तरंगों के माध्यम से टी0वी0 पर चित्र आदि देखते हैं, उसी भांति मंत्रों के शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण से ध्वनि तरंगों के माध्यम से देव साक्षात्कार संभव हो सकता है।

बुन्देलखण्ड के मन्दिरों में अनेक शुभ कार्यों के प्रारम्भ में थापे लगाये जाते हैं। ये थापे हल्दी, चावल आदि के लगाये जाते हैं। यहां किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिये मनौती के रूप में उल्टे थापे लगाये जाते है तथा कार्य सिद्ध हो जाने के पश्चात ये थापे सीधे किये जाते है। यह कार्य बुन्देलखण्ड की विशेष छाप है। थापे एक प्रकार से पंच परमेश्वर के प्रतीक माने जाते हैं।

यहां के अधिकांश मन्दिरों के बाहर यहां के लोक देवता लाला हरदौल का स्थान किसी चबूतरे या छोटी सी मठिया के रूप में अवश्य मिलता है। जो बुन्देली लोक की पहचान है।

अध्ययन की दृष्टि से किया गया कोई भी कार्य अन्तिम नहीं आंशिक होता है। इसीलिये बुन्देलखण्ड के वैष्णव मन्दिरों का संकलन करके ही कार्य की समाप्ति मान लेना सर्वथा अनुचित है। यहां के मन्दिर असाधारण हैं। ये हमारी संस्कृति के प्रतीक एवं प्रतिनिधि हैं। मन्दिरों की पूर्ण जानकारी के अभाव में इन्हें केवल देखा जा सकता है, इनके निर्माण के मूल उद्देश्य इनकी आत्मा को समझा नहीं जा सकता। जब मन्दिरों की पूर्ण जानकारी प्राप्त हो तब इनको देखकर मन के साथ हृदय भी आनन्दित हो उठता है, मन्दिर और भी भव्य तथा मूर्तियां जीवन्त प्रतीत होती हैं, और उनमें हम ईश्वरीय सत्ता का आभास पाते हैं।

अभी तक हुये कार्यों में मंदिरों का सांस्कृतिक स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण एक प्रकार की कमी थी। इस शोध–ग्रन्थ के माध्यम से उन कमियों को

दूर करने का प्रयास किया गया है तथा धर्म साहित्य एवं उपलब्ध तथ्यों के आधार पर इस कार्य में सम्बद्धता, गतिशीलता, तारतम्यता तथा तथ्यात्मक बोध लाने का प्रयास किया गया है।

बुन्देलखण्ड के वैष्णव मंदिरों की यह सम्पदा सुदृढ़ स्थिति में खड़े, कहीं जर्जर अवस्था में व कहीं यत्र–तत्र बिखरे भग्नावशेष ही सही, फिर भी इनमें ऐतिहासिकता है। आवश्यकता थी एक पुरातत्वीय दृष्टि की जिसके द्वारा इनके संकलन व ऐतिहासिक सांस्कृतिक अध्ययन से ये मन्दिर पुनर्जीवित हो सकें। क्रमशः इसी तरह के प्रयास आगे भी बुन्देलखण्ड की अनमोल धरोहर को मौलिक स्थिति में जीवित रख सकेंगे ताकि इनको नष्ट होने से बचाया जा सके तथा वर्तमान से जोड़कर इसी परम्परा को आगे अक्षुण्ण रखा जा सके।

बुन्देलखण्ड में मन्दिर तो बहुतायत में हैं, जिनमें वैष्णव मंदिरों का अध्ययन एवं उनके विषय में समस्त जानकारी प्राप्त कर उनका संकलन कर उन पर अनुसंधान परक दृष्टिपात कर जो शोध सामग्री प्राप्त हुई है,उसे इस शोध कार्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
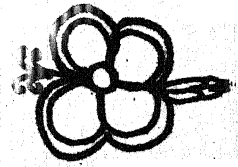
संदभ–ग्रन्थ सूची

संस्कृत भाषा के ग्रन्थ

1– ऋग्वेद – संस्कृत संस्थान बरेली

2– अथर्ववेद – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1990

3– गीता – गीता प्रेस, गोरखपुर

4– पद्म पुराण – चौखम्बा संस्कृत सीरीज

5– महाभारत – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1990

6– शतपथ ब्राह्मण – संस्कृत संस्थान, बरेली

7– श्रीभाष्य – बैंकटेश्वर प्रेस, पूना

8– तैतरीय संहिता – चौखम्बा संस्कृत सीरीज

9– महाभाष्य – वाणी विलास प्रकाशन, वाराणसी

10– मेघदूत व्याख्या – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1988

11– शिवगीता – चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी

हिन्दी भाषा के ग्रन्थ

1– अग्नि पुराण – आनन्दाश्रम प्रेस, पूना

2– गरूण पुराण – पण्डित पुस्तकालय, काशी–1963

3– विष्णु धर्मोत्तर पुराण – बैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

4– केन उपनिषद – वी0आई0सीरीज, कलकत्ता

5– मुण्डकोपनिषद – आनन्दाश्रम प्रेस, पूना

6– विष्णु पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर

7–	ब्रह्मवैवर्त पुराण	–	आनन्दाश्रम, बम्बई
8–	नारद पांचरात्र	–	गीता प्रेस, गोरखपुर
9–	स्मृति शास्त्र	–	चौखम्बा संस्कृत सीरीज
10–	आगम शास्त्र	–	चौखम्बा संस्कृत सीरीज
11–	स्कन्द पुराण	–	गीता प्रेस, गोरखपुर
12–	वेदान्त कामधुनु दशाश्लोकी	–	हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
13–	सूरसागर	–	हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
14–	प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति	–	के0सी0 श्रीवास्तव, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद
15–	प्राचीन भारत का इतिहास	–	द्विजेन्द्र नाथ झा, कृष्ण मोहन श्रीमाली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्व विद्यालय
16–	प्राचीन भारत	–	पी0एल0 गौतम, जैन प्रकाशन मन्दिर जयपुर
17–	भारत का वृहद् इतिहास	–	मजूमदार, रायचौधरी, दत्त, ताज प्रेस ए 35/4 मायापुरी, दिल्ली
18–	मध्यकालीन भारत	–	मीनाक्षी जैन, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद
19–	मध्यकालीन भारत	–	विद्याधर महाजन, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लिमटेड, दिल्ली
20–	भारतीय मूर्तिकला	–	रामकृष्णदास, इलाहाबाद 1974
21–	भारतीय वास्तुकला कला	–	डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

22– भारतीय वास्तुकला कला इतिहास – के0डी0 बाजपेयी, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ

23– विष्णु उपासना – रामकृष्णदास 'रसिक' देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली

24– ओरछा का इतिहास – ठा0 लछमन सिंह गौर– लोक शिक्षण संचालनालय म0प्र0

25– सिंद्धान्त कौमुदी – वैंकटेश्वर प्रेस, पूना

26– अशोक के शिलालेख – राजबली पाण्डेय, वाराणसी सं0 2002

27– समाज शास्त्र के मूल तत्व – टॉयलर, जेम्स फेजर, पिडिगटन, मैलिनोवॉस्की

28– समाज शास्त्र के मूल तत्व – मैकाइवर और पेज– विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली

29– स्वतंत्रता और संस्कृति – डॉ0 राधा कृष्णन, विश्व विद्यालय प्रकाशन दिल्ली

30– अशोक के फूल – हजारी प्रसाद द्विवेदी– नागरी प्रचारिणी सभा

31– भारतीय संस्कृति और साहित्य – डॉ0 मनमोहन शर्मा, विश्व विद्यालय प्रकाशन, दिल्ली

32– भारतीय वास्तु शास्त्र – द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल

33– रामचरित मानस – गीता प्रेस, गोरखपुर

34– प्रतिमा विज्ञान – डॉ0 इन्दुमती मिश्र, म0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

35– बुन्देलखण्ड दर्शन – मोती लाल त्रिपाठी 'अशान्त' शारदा साहित्य कुटीर, पुरानी नझाई झांसी

36– बुन्देलखण्ड का पुरातत्व – डॉ0 एस0डी0 त्रिवेदी, सन्तोष प्रिन्टिंग प्रेस दतिया गेट, झांसी

37– बुन्देली समाज और संस्कृति – बलभद्र तिवारी, बुन्देली पीठ डॉ0 हरी सिंह विश्वविद्यालय, सागर

38– बुन्देली लोक काव्य – बलभद्र तिवारी, बुन्देली पीठ डॉ0 हरी सिंह विश्वविद्यालय, सागर

39– सांस्कृतिक बुन्देलखण्ड – अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' नमन प्रकाशन मण्डपम् राठ रोड, उरई

40– चन्देल कालीन बुन्देलखण्ड – का इतिहास – अयोध्या प्रसाद पांडे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

41– महाराजा छत्रसाल – भगवान गुप्त, बाबूश्याम सुन्दर दास द्वारा प्रकाशित

42– चन्देल और उनका राजत्व – काल – केशव चन्द्र मिश्र नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

43– बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त – इतिहास – गोरेलाल तिवारी, प्रयाग सं0 1990

44– बुन्देलखण्ड का इतिहास – दीवान प्रतिपाल सिंह भाग–1

45– दक्षिण भारत का इतिहास – नीलकंठ शास्त्री, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना

46– खजुराहो की देव प्रतिमायें – रामाश्रय अवस्थी, प्रथम संस्करण 1967, आगरा

47– बुन्देलखण्ड की लोक – संस्कृति का इतिहास – नर्मदा प्रसाद गुप्त, राधा कृष्णन प्रकाशन, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली

48– गौरवशाली कालपी – डॉ0 हरीमोहन पुरवार, अंकुर प्रिन्टर्स,उरई

49– बुन्देलखण्डी लोकगीतों में सांगीतिक तत्व – डॉ0 वीणा श्रीवास्तव, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली

50– बुन्देलखण्ड : साहित्यिक, एतिहासिक, सांस्कृतिक वैभव – डॉ0 रमेश चन्द्र श्रीवास्तव म0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

51– बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक वैभव – मोती लाल चौरसिया, बी0के0 तनेजा क्लासिकल पब्लिसिंग कम्पनी, नई दिल्ली

52– बुन्देलखण्ड का इतिहास – डॉ0 महेन्द्र वर्मा, सुशील प्रकाशन मेरठ

53– बुन्देलखण्डी लोकगीत – शिवसहाय चतुर्वेदी, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद 1959

54– म0प्र0 के नागवंशीय सिक्के – अंतिमा बाजपेयी–हिन्दी संस्थान मध्य प्रदेश

55– बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप – कृष्ण लाल हंस, प्रयाग, 1976

56– म0प्र0 के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ – डॉ0 राजकुमार वर्मा म0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

57– रहीम के दोहे – अब्दुल रहीम

58– कल्याण – तीर्थांक अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर

59– कल्याण – हिन्दी संस्कृति अंक गीता प्रेस, गोरखपुर

60– कल्याण – धर्मांक विशेषांक गीता प्रेस, गोरखपुर

आंग्लभाषा के ग्रन्थ

1– आईकोनोग्राफी ऑफ विष्णु – कल्पना देसाई, बम्बई, 1973

2– एलीमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी – टी0ए0सी0 राव, मद्रास 1914

3– आक्योलॉजी सर्वे रिपोर्ट – कनिंघम, बाल्यूम, 2, 7, 10, 21

4– एपिग्राफिक इण्डिया – बाल्यूम–।

5– दि ट्राष्ज एण्ड कास्टस ऑफ दि सेंटल प्राविन्सेज इण्डिया – आर0वी0 रसेल भाग–2

6– लिंगविस्टल ऑफ इण्डिया – बाल्यूम–9

7– एनिशियेन्ट ज्योग्रॉफिक ऑफ इण्डिया – एलेक्सजेंडर, वाराणसी 1965

8– द सोशल ऑर्डर – टॉयलर, दिल्ली

9– हर्षचरित (बूलर का अनुवाद)

10– आक्योलॉजी ऑफ एरच – ओ0पी0 लाल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

11– क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डिया– सी0डी0 शर्मा, दिल्ली

12– सिक्स स्कल्पचर्स फ्राम महोबा, मेम्बायर ऑफ आक्योलॉजिकल सर्वे – के0एन0 दीक्षित, कलकत्ता 1921

13– अनपब्लिस्ड स्कल्पचर्स एण्ड टैराकोटाज इन दि नेशनल म्यूजियम – आर0सी0 अग्रवाल, न्यू देहली एण्ड एलाइज प्रोब्लेम्स, ईस्ट बेस्ट न्यू सीरीज

14– गुप्ता आर्ट – बी0एस0 अग्रवाल, लखनऊ 1448

पत्र–पत्रिकायें एवं लेख

बुन्देलखण्ड के मूर्तिशिल्प में राम, प्राच्य प्रतिभा अंक– एस0डी0 त्रिवेदी

भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान

एरच के प्राचीन सिक्के – 'चातक' मोहन लाल गुप्त

बुन्देलखण्ड की जीवन रेखा 'वेत्रवती' विशेषांक हरगोविन्द गुप्त

बुन्देलखण्ड की इतिहास यात्रा – सहयोग पत्रिका वर्ष– 1999

ओरछा गजेरिटर

हुएनसांग का भारत भ्रमण

जनपद जालौन के मध्यकालीन भवनों का ऐतिहासिक मूल्यांकन– शोध प्रबन्ध हरीमोहन पुरवार

खजुराहो के मन्दिरों पर एक विहंगम दृष्टि 'लघु शोध –प्रबन्ध' पूजा गुप्ता

खजुराहो पत्रिका – लाल एण्ड सन्स

मधुकर सं० बनारसीदास चतुर्वेदी कुण्डेश्वर टीकमगढ़ (म०प्र०)

'मामुलिया' सं० नर्मदा प्रसाद गुप्त बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर

'सम्मेलन पत्रिका (लो० सं० वि०) सं० रामनाथ सुमन, हिन्दी सहित्य सम्मेलन प्रयाग

लोककला दर्पण, राष्ट्रीय लोककला, महोत्सव, स्मारिका सं० अयोध्या प्रसाद गुप्त 2001

झांसी महोत्सव स्मारिका– 1996, सं० श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव भावना प्रिन्टर्स

बुन्देलखण्ड का लोक जीवन सर्वेक्षण रिपोर्ट, संस्कृति विभाग उ०प्र०

स्मारिका 'महाराजा छत्रसाल महाबली' रामराजा फिल्मस एवं नगर पालिका परिषद, पन्ना

प्राचीन बुन्देलखण्ड– भगवान दास गुप्त– एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण मध्यदेश दीपावली विशेषांक

दैनिक कर्मयुग

दैनिक जागरण